किताब महल निबन्धमाला—२

लेखक
डा० रामविलास शर्मा

किताब महल : इलाहाबाद

प्रथम संस्करण, १९४८

प्रकाशक—किताब महल, ५६-ए, ज़ीरोरोड, इलाहाबाद
मुद्रक—बद्‌लराम जायसवाल, राम प्रिंटिंग प्रेस, कीटगंज, इलाहाबाद

विषय-सूची

लेखक और जनता

कुछ दिन पहले जैसे हिन्दुस्तान के विद्यार्थियों में यह एक बहस की बात थी कि राजनीति में हिस्सा लें या न लें, वैसे ही अभी तक कुछ हिन्दी लेखकों में इस बात की चर्चा चलती रहती है कि जनता से भी उनका सम्बन्ध होना चाहिए या नहीं। जनता से संबंध होने का बहुत सीधा अर्थ वह यह लगाते हैं कि साहित्य पर राजनीति का प्रभाव पड़ने लगेगा। लेखक और जनता का सम्बन्ध राजनीति का ही नहीं है परंतु उस सम्बन्ध में राजनीति का बहुत बड़ा अंश है, इससे इंकार नहीं किया जा सकता। इसी-लिये प्रगतिशील साहित्य पर अक्सर यह अभियोग लगाया जाता है कि उसने साहित्य को राजनीति की पोथी बना दिया है।

एक पराधीन देश की जनता अपने जीवन की हर घड़ी और क्षण में अपनी राजनीतिक स्वाधीनता के अभाव को महसूस करती है। राजनीति का प्रश्न उसके जीवन की तमाम समस्याओं में घुल-मिल जाता है। साम्राज्यवाद एक आर्थिक और राजनीतिक शक्ति है। देश में अपने पैर जमाये रखने के लिये उसने फ़ौज, पुलिस, कचहरी, शिक्षालय, जमींदार, मुनाफ़ाख़ोर आदि-आदि वर्गों और संस्थाओं द्वारा तमाम समाज को जकड़ रक्खा था। समाज की काया साँस लेते ही इस लोहे के साँचे की सख्ती का अनुभव करती है। पग-पग पर इसकी कठोरता का

परिचय मिलता रहता है। उस मनुष्य को हृदयहीन समझना चाहिये जो इस पराधीनता को अनुभव न कर सके। कवि या साहित्यकार समाज का सबसे भावुक, विचारशील और सहृदय प्राणी होता है। दूसरे लोग पराधीनता के ताप को सहते-सहते भले ही उसके आदी हो जायें लेकिन कवि का सुकोमल हृदय तो उसके सम्पर्क से झुलस जाता है। वह अपने साहित्य में इस प्रतिक्रिया को व्यक्त किये बिना कैसे रह सकता है? लेखक और जनता या लेखक और राजनीति की समस्या स्पष्ट रूप से यही है।

जीवन की पूर्णता को चाहने वाला, अपने साहित्य को समाज का दर्पण बनाने वाला कवि और कलाकार समाज की सबसे कठोर वास्तविकता राजनीतिक पराधीनता के प्रति उदासीन नहीं रह सकता। लोग मानते हैं कि साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब है लेकिन कुछ सज्जन इस प्रतिबिम्ब में अपनी रसिक आकृति के सिवा और कुछ नहीं देखना चाहते। साधारण जनता की नयी राजनीतिक चेतना का प्रतिबिम्ब जहाँ साहित्य में दिखायी दिया कि उन्होंने कहना शुरू किया कि दर्पण ही फूट गया। यह सही है कि रसिक जनों की आकृति जितनी सुन्दर होती है, उतनी मिल में काम करने वाले मज़दूरों या हल जोतने वाले खेतिहर किसानों की नहीं; लेकिन यदि रसिकगण दर्पण में अपना ही प्रतिबिम्ब देखना चाहते हैं तो उन्हें साहित्य की परिभाषा बदल देनी चाहिये। तब कहना चाहिये कि साहित्य वह दर्पण है जिसमें समाज के उन विशेष लोगों की ही शक्ल दिखाई देती है जो दुपल्ली टोपी लगाये, पान खाये, सुरमा रचाये इस दुनिया से दूर नायिका-भेद के संसार में विचरण किया करते हैं। इन साहित्य-मर्मज्ञों के हृदय इतने "सहृदय" हो गये हैं कि जिस

बात से चालीस करोड़ जनता के हृदय को ठेस लगती है, वह उनके मर्म को छू भी नहीं पाती। इनका कुसुम-कोमल हृदय नक़ली गर्मी से उगनेवाले पौधों की तरह एक कृत्रिम साहित्य की उत्तेजना पाकर ही विकसित होता है। ये लोग कहें तो ठीक ही होगा कि लेखकों को जनता से दूर ही रहना चाहिये।

दिन प्रतिदिन संसार के इन विचित्र प्राणियों की संख्या कम होती जा रही है। लेखकों में बहुतायत उन लोगों की है जो अपने को समाज की रीतिविधि से बँधा हुआ पाते हैं। समाज की हर धड़कन का असर उनकी लेखनी पर भी पड़ता है। यह असर एक यांत्रिक रूप से नहीं पड़ता; ऐसा नहीं होता कि समाज के रथ में लेखक पीछे बँधा हुआ हो और उसके पीछे-पीछे लीक पर घिसटता हुआ चलता हो। लेखक सारथी होता है जो लीक देखता हुआ साहित्य की बागडोर सँभाले उसे उचित मार्ग पर ले चलता है। प्रतिकूल भूमि पर भी वह नई लीक बनाता है। वह सिद्ध करता है कि 'महाजनो येन गतः स पंथाः' लेकिन इसे सिद्ध करने के लिये वह रथ छोड़ कर नहीं भाग जाता। उच्छृङ्खल कलाकारों की तरह यह सारथी समाज से दूर खड़े होकर रथ से अपने पीछे आने का संकेत नहीं करता।

'वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि' यह उक्ति साहित्य-कार पर भी लागू होती है। राजनीतिक पराधीनता के ताप से उसका कुसुम-कोमल हृदय झुलसता है और समाज के आकाश में वज्र-गर्जन करने वाले बादल लाने की क्षमता भी उसमें होती है। वह लेखक पलायनवादी और निराश होता है जो इस आँच से सहम कर कल्पना के नंदनवन में भाग जाता है या निराशा के बियावान में आठ-आठ आँसू बहाता रह जाता है।

सामाजिक परिस्थितियाँ उसे जाँचती हैं कि हृदय कुसुम के समान कोमल होने के साथ-साथ वज्र की तरह कठोर भी है या नहीं। इस परीक्षा में सफल होना लेखक के जीवन-मरण का प्रश्न है। उसका साहित्य अमर होता है या क्षणिक, यह उसके नैतिक बल पर भी निर्भर है। जिसका मनोबल क्षीण हो गया है, जो जीवन-संग्राम को पीठ दिखाता है, जिसके कण्ठ से शत्रु के लिये ललकार फूटने के बदले आर्त्तनाद सुनाई देता है, वह अमर पद का दावेदार कैसे हो सकता है? अपने सामाजिक उत्तर-दायित्व से बचना वास्तव में एक प्रकार की कायरता है। लेखक इस उत्तरदायित्व को निबाहता है या नहीं, यह साहित्यिक प्रश्न ही नहीं, लेखक के लिये उसकी नैतिकता का प्रश्न भी है। फ़रहाद ने कोह काट कर नहर निकाली थी। साहित्य की अमर सरिता भी आर्थिक और राजनीतिक उत्पीड़न के महापर्वत को काट कर प्रवाहित की जाती है। अपनी कुदाल फेंक कर इस पर्वत की एक चट्टान के नीचे बैठा हुआ साहित्यकार कल्पना की आकाश-गंगा से धरती के हृदय को सरस नहीं बना सकता।

कवि क्या लिखे क्या न लिखे, यह उसकी इच्छा के साथ-साथ परिस्थितियों पर भी निर्भर है। हर युग में, हर देश में उसको इच्छानुसार लिखने की स्वाधीनता नहीं रही। वास्तव में स्वाधीनता पूर्वक लिखने के अधिकार के लिये उसे बहुत बड़ा संघर्ष करना पड़ा है। जितना ज्यादा साधारण जनता पराधीनता-पाश में बँधी रही है, उतने ही ज्यादा बन्धन लेखक पर भी लगे रहे हैं। जैसे-जैसे सामाजिक विकास-क्रम में संगठित होती हुई जनता आर्थिक और राजनीतिक स्वाधीनता की ओर अग्रसर होती गई है, वैसे-वैसे कवि को भी साहित्य रचने की स्वाधीनता पहले से अधिक मिलती गई है। इसीलिये अपनी स्वाधीनता का हामी

लेखक समाज के प्रति अपने उत्तरदायित्व को भी खूब पहचानता है; क्योंकि वह जानता है कि समाज के संघर्ष से ही उसे यह स्वाधीनता मिली है और वह साधारण जनता की स्वाधीनता का एक अंग है।

एक युग वह भी था जब सारथी बनने के बदले अनिवार्य रूप से लेखक रथ के पीछे बाँध दिया जाता था। सामंती बंधनों में जकड़ा हुआ कवि अपने आश्रयदाता का गुणगान करता था। उसके लिखने के अधिकार को एक छोटे से सामंती वृत्त में सीमित कर दिया जाता था। उसी के भीतर रह कर वह उपमा, रूपक और अनुप्रासों की छटा दिखाता था। घोड़ों और व्यञ्जनों के नाम गिनाने में वह अपनी कल्पना का प्रसार देखता था। शूरता और सौन्दर्य के अतिरञ्जित वर्णन में वह यथार्थ की भूमि से उड़ता हुआ आकाश से जा लगता था। इस वृत्त की सीमाओं को तोड़ा हमारे संत कवियों ने। वे सुन्दर पाग बाँधकर जागीरदारों के दरबारों में नहीं बैठे। उन्होंने साहित्यकार की सीमाओं को देखा, लेकिन उन्हें स्वीकार नहीं किया। वे समाज छोड़कर निर्जन वन में कुटी बनाकर योग साधने पर भी नहीं तुल गये। 'ऊधो, जोग-जोग हम नाहीं'—सूरदास ने गोपियों के मुँह से मानो अपनी ही बात कही थी। संसार छोड़ कर योग साधने वालों पर इन कवियों ने व्यंग्य और कटाक्षों की झड़ी लगायी है। चाहे निर्गुनिये संत हों, चाहे सगुणवादी उपासक हों, ये लोग समाज में रह कर, और समाज में भी सबसे निम्न वर्गों में घुल-मिल कर, उन्हें प्रेम और एकता की बानी सुनाते रहे थे।

संत कवि पलायनवादी नहीं थे। मध्यकालीन साहित्य के वे एक मात्र क्रांतिकारी कवि थे। सामंती जड़ता, जातीय विद्वेष

और साम्प्रदायिक घृणा के विपरीत उन्होंने मानवता की भावना को उभारा। जो मनुष्यता गिर रही थी, उसे उन्होंने ऊपर उठाया। उनके साहित्य को पढ़कर निराशा, पराजय और दीनता के भाव नहीं उत्पन्न होते; बल्कि आत्म-विश्वास और आत्म-सम्मान की भावना ही पुष्ट होती है। निस्सन्देह उनके साहित्य में भी असंगतियाँ थीं। अंधविश्वास और निराशा की झलक उनके गीतों में मिलती है, परंतु यह उनके गीत का मूल-स्वर नहीं है। इस स्वर से उनके राग-विशेष का रूप स्थिर नहीं होता। कुल मिलाकर हम उन्हें जनता का कवि कह सकते हैं और इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि जनता के कंठ में अब भी उनकी वाणी गूँज रही है। जो लोग अपने को बहुत आधुनिक और विचारशील मानते हैं, जो समझते हैं कि पुराने अंध-विश्वासों से उनकी चेतना एकदम मुक्त हो गई है, वे इस बात पर भी विचार करें कि उनकी वाणी संत कवियों की बानी की तरह जनता के कण्ठ में क्यों नहीं उतर पाई। साहित्य को जनता तक पहुँचाने के साधन पहले से कहीं ज्यादा हमारे पास हैं, फिर भी हम उनसे पूरा लाभ नहीं उठा पाते तो इसका एक ही कारण है कि हम साहित्य के उद्देश्य को ही नहीं समझते। जन-साधारण को उन्नत करने, उसके जीवन को विकसित करने के बदले हम साहित्य को अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के घेरे में ही बाँध कर रखना चाहते हैं। लेखक का व्यक्तित्व समाज के संघर्ष में ही विकसित होकर पुष्ट होता है। इस तरह का व्यक्तित्व समाज के लिये साहित्य रचने से मुँह नहीं चुराता। अंतर्द्वन्द्वों की बात करके इस उत्तरदायित्व से वही लेखक बचने की कोशिश करते हैं जो संघर्ष की आँच लगते ही 'लाज से छुई-मुई सी म्लान' हो जाते हैं।

भारतेन्दु-काल में साहित्य के नये पाठक उत्पन्न हुए। साहित्य का संरक्षण दरबारों में सीमित न रहा। पुस्तकें छपने और बिकने लगीं; शिक्षित मध्यवर्ग के लोग उनके पाठक बन कर साहित्य के नये संरक्षक बने। इसीलिये हमारे साहित्य में एक नया युग आरंभ हुआ। प्रेस-ऐक्ट और साम्राज्यवादी दमन के बावजूद एक नया स्वाधीनता पाने वाले लेखकों ने उससे लाभ उठा कर साहित्य को दरबारी दुनिया से बाहर निकाला, रीतिकाल की परम्परा से युद्ध किया, जनता में देशभक्ति और स्वाधीनता की भावना जगाई। तब से वह क्रम चला आ रहा है। साम्राज्यवादी शोषण पहले से और गहन हो गया। इसलिये लेखकों के लिये भी यह स्वाभाविक था कि वे और सचेत होकर उसका मुक़ाबला करें। साम्राज्यवादी युद्ध शुरू होने पर हिन्दुस्तान के लेखक भी जेल गये, नज़रबन्द रहे और अपने जीवन में उन्होंने इस बर्बर दमन का परिचय पाया। कोई नहीं कह सकता कि इससे उनका साहित्य निर्बल हो गया और वे साहित्य देवता के सिंहासन से नीचे गिर पड़े।

पन्द्रह अगस्त के बाद देश में एक परिवर्तन हुआ है। साम्राज्यवाद का वह पुराना रूप बदल गया है। हम अब अपने देश को अपना कह सकते हैं और उसके नवनिर्माण का भार ख़ुद अपने कंधों पर उठा सकते हैं। लेकिन इसके साथ ही अपने आर्थिक और सैनिक प्रभुत्व को कायम रखने के लिये साम्राज्यवाद ने यहाँ की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को इस तरह सुरक्षित छोड़ दिया है कि वे आये दिन निर्माण कार्य को असंभव बना रही हैं। निर्माण तो दूर, उन्होंने देश में वह ध्वंस कार्य किया है कि अब निर्माण के लिये सँभलते-सँभलते न जाने कितने वर्ष लग जायेंगे। यही नहीं

उत्तरी भारत में जो सर्वनाश की ज्वाला धधक रही है, उसकी लपटें सारे हिन्दुस्तान में फैलाने का आयोजन किया जा रहा है। ब्रिटेन और अमरीका के प्रतिक्रियावादी बड़ी सजग दृष्टि से इस जनसंहार को देख रहे हैं। यह अराजकता उनके प्रभुत्व को बनाये रखने के लिये एक मात्र आशा है। देशी रियासतों के बचे-खुचे सामंत और मिलों और कारखानों के मुनाफ़ेख़ोर मालिक परस्पर गठबंधन करके जनता के खिलाफ़ एक फ़ासिस्टमोर्चा बना रहे हैं। वे पानी की तरह पैसा बहा कर हज़ारों की रैली करते हैं और उनमें हिन्दूधर्म या इस्लाम के रक्षक बनकर प्रकट होते हैं। लेखक की स्वाधीनता के सबसे बड़े शत्रु यही हैं। प्रकाशन की व्यवस्था पर अपना पंजा जमा कर उन्होंने लेखक को अपना क्रीत-दास बनाने का षड्यंत्र रचा है। वे चाहते हैं कि लेखक या तो उनके जनहत्या और स्वाधीनता-विरोधी कार्य में सहयोग दे या फिर वह मौन रह कर नष्ट हो जाये। हिन्दी लेखकों पर यह उत्तरदायित्व है कि वे अपनी स्वाधीनता के लिये लड़ते हुए इस सामंती और पूँजीवादी गठबन्धन को तोड़ें।

पन्द्रह अगस्त के बाद देश की प्रगतिशील ताकतों को जहाँ आगे बढ़ने का मौका मिला है, वहाँ प्रतिक्रियावादी दल भी अपना अंत निकट आता देख कर बौखला उठा है। वह एँड़ी चोटी का ज़ोर लगा रहा है कि सर्वनाश की लपटें सारे हिन्दुस्तान में फैल जायें। अपने हिलते हुए सिंहासन को सँभालने का उसे एक ही उपाय दिखाई देता है—हत्या और लूट। सबसे पहले इस हत्या और लूट के साथ देशी रियासतों में प्रजा के आन्दोलन को कुचला जा रहा है। इसके बाद ब्रिटिश भारत में घूसख़ोर अफ़सर और मुनाफ़ेख़ोर मिल-मालिक

इस बात की कोशिश में लगे हैं कि जनता की ताक़त खत्म करके अपना प्रतिक्रियावादी शासन क़ायम कर लें। आज प्रश्न यह है कि जनता स्वाधीनता की तरफ़ बढ़े या अँग्रेजों और उनके पिट्ठू सामंतों पूँजीवादियों की गुलामी स्वीकार करे। हमारे देश में जिन्दगी और मौत की लड़ाई छिड़ी हुई है। सबसे पहले हमें जन-हत्या की लपटों को बुझाना है; उसके बाद अँग्रेजों द्वारा छिन्न-भिन्न की हुई अपनी आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था पर ध्यान देना है। इस संघर्ष में लेखकों का क्या स्थान होगा? क्या वे इससे तटस्थ रहेंगे? क्या वे प्रतिक्रियावादी शक्तियों का साथ देंगे? दोनों ही तरह से जनता का भविष्य अंधकारमय होगा और उसके साथ हमारा साहित्य और संस्कृति भी रसातल चले जायेंगे। हमें एक स्वाधीन देश का लेखक बनना है। हम एक ऐसे देश के लेखक हैं जो सदियों की गुलामी के बाद फिर से आजादी की साँस लेना चाहता है। इस साँस को, बन्द करने के लिये बड़े-बड़े सामंत और पूँजीपति अपनी उँगलियों से उसके गले को दबा रहे हैं। प्रत्येक स्वाधीन देश के लेखकों ने ऐसी दशा में इन प्रतिक्रियावादी शक्तियों का विरोध किया है। अपनी जान की बाजी लगाकर उन्होंने अपनी जनता और साहित्य के जीवन की रक्षा की है। हिन्दुस्तान के लेखक भी ऐसा ही करेंगे, इस बात की आशा की जा सकती है।

लेखक और जनता—इस समस्या का वास्तविक रूप यही है कि तुम आजादी के साथ हो या गुलामी के साथ, जिन्दगी के साथ या मौत के साथ, उज्जवल भविष्य के साथ या अन्धकार-मय सामन्ती युग के साथ।

साहित्य और भौतिकवाद

सामाजिक और राजनीतिक क्रान्तियों के पीछे जनता की भौतिक शक्ति के साथ-साथ विचार और चिंतन की शक्ति भी काम करती है। यह दूसरी शक्ति जितनी दृढ़ और गंभीर होती है, क्रान्ति का प्रभाव उतना ही स्थायी भी होता है। मार्क्स ने क्रान्तियों के लिये लिखा था कि वे इतिहास को आगे चलाने वाली लोकोमोटिव हैं। इतिहास का रथ दर्शन और विचारों के बिना नहीं चलता। पश्चिमी संसार में फ्रांस और रूस की दो महान् क्रान्तियों ने समाज में ही नहीं, विचारक्षेत्र में भी महान् परिवर्त्तन किये हैं। उनका परिणाम परवर्त्ती साहित्य में भलीभाँति अंकित है।

फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति कई सदियों से चले आते हुए सामंती अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह थी। इसका नेतृत्व पूँजीवाद ने किया क्योंकि अभी मज़दूर वर्ग एक सङ्गठित क्रान्ति-कारी वर्ग के रूप में विकसित न हुआ था। विचारक्षेत्र में इस क्रान्ति की तैयारी बहुत पहले से शुरू हो गयी थी। पुराने धर्म और चर्च के प्रति आस्था होने से पूँजीवाद के विकास में बाधा पड़ती थी। सामंतवाद के समर्थक इन पुराने धार्मिक अंधविश्वासों को बनाये रखने में ही अपनी रक्षा समझते थे। चर्च ने सिखाया था कि वह स्वयं धार्मिक दृष्टि से जनता का राजा है। नए व्यापारियों और मिलमालिकों ने इस धारणा को चुनौती दी। हॉब्स और लॉक नाम के दो विद्वानों ने पूँजीवादी

एकछत्रता (Bourgeois Sovereignty) का प्रतिपादन किया। हॉब्स ने राजनीति का प्रसिद्ध ग्रंथ 'लेवायाथान' लिखा जिसमें उसने राज्यसत्ता के ईश्वरकृत अधिकार को अस्वीकार किया। उसने कहा कि एकछत्र राज्यसत्ता का आधार बुद्धि और प्रकृति (Reason and Nature) हैं। चर्च दावा करता था कि आध्यात्मिक क्षेत्र में उसी का एकछत्र शासन है। इसके लिये हॉब्स ने कहा—"इस धरती पर कहीं ऐसे आदमी नहीं दिखाई देते जिनके शरीर आध्यात्मिक हों। इसलिये जो आदमी अभी शरीर धारण किये हुए हैं, उनका कोई आध्यात्मिक-संगठन नहीं हो सकता।" लॉक ने दर्शन-शास्त्र की युगान्तरकारी पुस्तक "मानव-बोध पर निबंध" (Essay Concerning Human Understanding) लिखी जिसमें उसने यह सिद्ध किया कि मनुष्य के विचारों का उद्गम ईश्वर या कोई आधि-दैविक सत्ता नहीं है बल्कि उनका जन्म मानवीय अनुभव में होता है। अभी तक आदर्शवादी विचारक मनुष्य के सङ्कल्पों और विचारों को स्वतंत्र आंतरिक सत्ता मानते आये थे। लॉक ने दिखाया कि जिन विचारों को लोग आध्यात्मिक मान बैठे थे, बिना उनकी सहायता के भी ज्ञान अर्जित किया जा सकता है। ईश्वर के बारे में भी लोगों की एक सी धारणा न होने से यह मालूम होता है कि लोगों ने अपने-अपने अनुभव से ईश्वर की कल्पना की है। "यदि ईश्वर मनुष्य के मन पर अपनी विशेषता की कोई छाप छोड़ता तो यह बात तर्क-संगत है कि उसके बारे में लोगों की धारणा स्पष्ट और मिलती-जुलती होती जहाँ तक कि ऐसे विशाल और अगम तत्त्व को पहचानना हमारी निर्बल बोध-शक्ति द्वारा सम्भव है।" इसलिये विचारों का स्रोत मनुष्य का अनुभव है। वही हमारे ज्ञान का उद्गम है। मनुष्य के

व्यक्तित्व का रहस्य उसकी अमर आत्मा नहीं है बल्कि एक ही शरीर में उसके जीवन का प्रवाह है।

यह भौतिकवाद अपनी प्रारंभिक अवस्था में बहुत कुछ यान्त्रिक था। वह संसार को एक बड़े यंत्र के रूप में देखता था। प्रकृति का बारबार उल्लेख करते हुए भी वह उसे एक बड़ी मशीन के रूप में चित्रित करता था जो अनिवार्यता और संसर्ग (Nec ssitr and Association) के नियमों से बँधी हुई थी। फिर भी बर्कले जैसे आदर्शवादियों को देखते हुए यह मनुष्य के चिंतन में एक बहुत बड़ी प्रगति थी। बर्कले भूतजगत् के अस्तित्व से ही इन्कार करता था। उसने एक पुस्तक लिखी 'ज्ञान के सिद्धान्त' (Principles of Knowledge) जिसमें उसने कहा था, "लोगों में यह एक बड़ी विचित्र धारणा फैली हुई है कि मकान, पहाड़, नदियाँ और इन्द्रियों से जानी-पहचानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ अपनी एक प्राकृतिक या वास्तविक सत्ता रखती हैं जो बुद्धि द्वारा ग्रहण किये जाने पर निर्भर नहीं हैं।" इसका मतलब यह था कि मनुष्य का मन जिस चीज को नहीं पहचान पाता, संसार में उसका अस्तित्व भी नहीं है। आदर्शवादी विचारक संसार की स्वतंत्र भौतिक सत्ता को अस्वीकार करते थे। उनके अनुसार यह सत्ता केवल मनुष्य के मन में थी। बर्कले का तर्क था कि भौतिक वस्तुओं को हम अपनी इन्द्रियों से पहचानते हैं। इन्द्रिय-ज्ञान वास्तव में अपने ही विचारों और संवेदनाओं का ज्ञान है। इसलिये भौतिक वस्तुओं का अस्तित्व मनुष्य के विचारों का पर्यायवाची है। यदि कोई पूछे कि जब मनुष्य का मन भौतिक पदार्थों को नहीं पहचानता तब उनका क्या होता है तो इसका उत्तर भी बर्कले ने दे दिया था। उसके अनुसार इनकी सत्ता किसी अनंत मन या अनंत चेतना में

रहती है। "हम केवल एक ही चीज़ के अस्तित्व से इन्कार करते हैं और वह वस्तु दार्शनिकों की कही हुई प्रकृति या भौतिक तत्त्व है।"

फ्रांस में बर्कले का आदर्शवाद छोड़कर वहाँ के चिंतकों ने लॉक और हॉब्स का पल्ला पकड़ा और उनके विचारों को विकसित किया। वोल्तेयर, रूसो, दालेम्बर, दिद्‌रो, कोन्दोर्से आदि विचारकों ने क्रान्ति के लिये मनुष्य के मन को तैयार किया। इन्होंने अपने चिंतन का आधार बुद्धि और तर्क को बनाया और पहली बार प्रयोगसिद्ध विज्ञान की नींव डाली। अभी तक रहस्यवादियों और आदर्शवादी विचारकों ने ज्ञान के आधार को ऐसी काल्पनिक अनुभूति बना रक्खा था जो प्रयोगसिद्ध नहीं थी। यह नयी विचारधारा १६वीं सदी के वैज्ञानिक विकास के लिये अनिवार्य थी।

रूसो और वोल्तेयर दार्शनिक होने के साथ बहुत ऊँचे साहित्यकार भी थे। १६वीं सदी के रोमाण्टिक साहित्यपर उनका व्यापक प्रभाव पड़ा। रूसो ने 'समाज का समझौता' (Social Contract) नाम के प्रसिद्ध राजनीतिक ग्रन्थ में जनता के राज्य-सत्ता-विरोधी प्रवाह को एक सैद्धान्तिक आधार दिया। उसने कहा कि समाज में प्रभुत्व जनता की इच्छा का होना चाहियें न कि बादशाह का। उसके अनुसार राजा और प्रजा में जो सम्बन्ध क़ायम थे वे अस्वाभाविक थे। "असमानता पर भाषण" (Discourses on Inequality) में उसने इन संबंधों पर प्रकाश डालते हुए कहा—"इससे अधिक प्रकृति के विरुद्ध और क्या होगा कि बच्चा बूढ़ों पर हुकुम चलाये, एक पागल ज्ञानी को राह बताये; और मुट्ठी भर लोग तो

विलासमय जीवन बितायें और बाकी जनसमुदाय खाने और कपड़े के लिये तरसता रहे।"

रूसो ने एक साहित्यिक आवारा का जीवन बिताया था। अपनी आवारगी के दौर में वह साधारण लोगों से काफ़ी मिला-जुला और उनके जीवन को नजदीक से देखने का उसे मौक़ा मिला। अपनी आत्मकथा में उसने लिखा है कि एक बार घूमते हुए रास्ता भूल कर वह एक किसान की झोंपड़ी में गया और कुछ खाने के लिये माँगा। किसान ने समझा, यह कोई अफ़सर है और मैं अगर अच्छा खाना दूँगा तो जो कुछ घर में है वह जब्त हो जायगा। इसलिये उसने मट्ठा और जौ की रोटी लाकर रख दी। लेकिन जब उसे पता चला कि यह तो कोई ग़रीब लेखक है तो उसने आमलेट तैयार की और कुछ शराब भी ले आया। रूसो ने इस घटना पर यह टिप्पणी लिखी है—'मुझे वह स्रोत मिल गया जहाँ से घृणा की आग पैदा होती है। यह आग साधारण जनता के हृदय में शोषकों के अत्याचार के ख़िलाफ़ उभरती रही। यह किसान खाता-पीता था लेकिन डरके मारे अपनी मेहनत की कमाई को छिपाता था और आसपास के लोगों की तरह अपने को ग़रीब दिखाना चाहता था जिससे कि अधिकारी उसे तबाह न कर दें। मैं उसके घर से निकला तो मुझे क्रोध और दुःख दोनों थे। मैं इस सुन्दर प्रदेश के भाग्य पर दुखी हुआ जहाँ प्रकृति ने अपना सौंदर्य बरसा दिया था लेकिन जहाँ की जनता आततायी अधिकारियों का शिकार बन गयी थी।" १६वीं सदी के अधिकांश-विचारकों ने आगे चलकर यह महसूस किया कि जो थोड़े से आदमी दूसरों की मेहनत के बल पर सम्पत्ति इकट्ठा कर लेते हैं, वह एक तरह की चोरी है और जनता अगर उसको

छीन ले और आपस में बाँट ले तो यह कोई अन्याय न होगा। इस बात को रूसो ने शिक्षापर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था—"जो आदमी अपनी मेहनत से न कमाई हुई वस्तु का उपयोग करता है, वह चोरी करता है। राज्य-सत्ता गुलामों के मालिकों को सिर्फ आलसी रहने के लिये बहुत कुछ देती है लेकिन मेरी दृष्टि में ये लोग राह के लुटेरों से किसी तरह भी बढ़ कर नहीं हैं।" मनुष्य की अच्छाई ईश्वरी देन नहीं होती बल्कि सामाजिक संबन्धों से उसका जन्म होता है। प्राचीन शिक्षा प्रणाली और समाज की संस्थाओं को इसीलिये उसने हेय बताया। यूरोप की शिक्षा संस्थाओं को उसने झूठ बोलने की पाठशाला कहा। कोई आश्चर्य नहीं कि टॉमस डेविडसन जैसे आलोचकों ने रूसो की पुस्तकों में "समाजवाद के भयानक रूपों के कीड़े" ढूँढ़ निकाले। लॉक की तरह वह भी विचारों का उद्‌गम मनुष्य की सम्वेदना (Sensations) को ही मानता था। वह इस पक्ष में नहीं था कि बच्चों को शुरू से ईश्वर में विश्वास करना सिखाया जाय क्योंकि इस काल में कच्ची बुद्धि होने से वे विश्वास तो नहीं कर सकते, केवल दूसरों की कही हुई बात को दुहरा सकते हैं। उस समय के नैतिक पतन की तीव्र निन्दा करते हुए उसने फ्रांस की राजधानी पेरिस के लिये लिखा कि यहाँ की स्त्रियों को अब अपने नारीत्व में विश्वास नहीं रह गया और न पुरुषों का विश्वास नैतिकता में रह गया है।

रूसो के सामने कोई सङ्गठित जन आन्दोलन नहीं था, इस लिये भावी समाज का चित्र भी अस्पष्ट था। उसकी प्रवृत्ति अराजकता की ओर हो गई। मनुष्य की आदिम अवस्था को ही वह आदर्श मान बैठा। उसकी इस भावुकता का भी रोमांटिक

कवियों पर असर पड़ा। युग की सीमायें इस भावुकता में प्रतिबिम्बित हुईं परंतु वे सीमायें हैं और रूसो के क्रान्तिकारी चिंतन का सबसे कमज़ोर पहलू हैं।

वाल्तेयर के चिंतन का आधार भी भौतिकवाद है। यद्यपि उसने राज्यसत्ता का खुला विरोध न किया था, फिर भी उसके चिंतन की तमाम धारा धर्म और राज्यसत्ता के अंधविश्वासों के प्रतिकूल है। उसने कहा कि सम्पत्ति के अनुसार लोगों पर टैक्स लगाना चाहिये और जिन युद्धों से समाज का पतन होता है उन्हें बन्द करना चाहिये। फ़्रांसीसी साम्राज्यवाद के वर्गरूप को उसने पहचान लिया था। हिंदुस्तान पर फ़्रांसीसी पूंजीवादियों के राज्यविस्तार करने का विरोध करते हुए उसने लिखा—"हमने उनके देश का नाश किया है, उसे उनके खून से सींच दिया है। हमने दिखा दिया है कि साहस और क्रूरता में हम उन से बढ़ कर हैं लेकिन बुद्धि में उनसे घटकर हैं। इस देश में ग्रीस के लोग ज्ञान पाने के लिये गये थे। यूरोप की जातियाँ इस युग में वहाँ एक-दूसरे का नाश करके धन कमाने के लिये गई हैं।"

फ़्रांसीसी राज्यक्रान्ति ने मठाधीशों, सामंतों और सम्राट् की सत्ता को अस्वीकार किया। उसने मनुष्य की समानता, स्वाधीनता और भ्रातृत्व का स्वर ऊँचा किया। फ़्रांसीसी दरबार यूरोप के आचार विचार का आदर्श माना जाता था। वहाँ के सम्राटों ने मध्यकालीन साहित्य और कला का पोषण किया था। लेकिन समाज के नये वर्गों ने, पूँजीपतियों और व्यापारियों ने इन सामंती भू-स्वामियों के अधिकार को ललकारा। जन साधारण सामंती अत्याचार से पीड़ित थे। सब ने मिलकर सामंतशाही का ध्वंस किया। लेकिन क्रान्ति के बाद उनके परस्पर वर्गहितों में टक्कर हुई। प्रश्न यह था कि अब आधिपत्य साधारण जनता का

हो या पूँजीपतियों का। एक सङ्गठित मजदूर वर्ग न होने से राज्य-सत्ता जनसाधारण के हाथ में न आ सकी। फ्रांस में खून की नदियाँ बहीं और उससे क्रान्ति के आलोचकों ने यह परिणाम निकाल लिया कि जनता अपनी हुकूमत खुद करने के अयोग्य है। पूँजीपतियों के लिये उन्होंने एक शब्द भी निन्दा का न कहा। इंगलैण्ड में कोई भी आदमी शासक वर्ग के अत्याचार के खिलाफ एक शब्द भी कहता तो उसे फ्रांस का एजेन्ट, फ्रांस का दलाल घोषित कर दिया जाता। आधुनिक अमेरिका में इसी तरह जो भी वहाँ के सेठों का विरोध करता है, आज अमरीका-विरोधी घोषित कर दिया जाता है। बर्क इन क्रान्तिविरोधियों का अगुआ बन गया और उसने फ्रांस के क्रान्तिकारियों को हत्यारा, डकैत, नास्तिक, अन्त्यज, लुटेरा और जो मन में आया सो कहा। क्रान्ति के विरोध में उसने एक नया दर्शन चलाया जिसका आधार वही पुराना आदर्शवाद था। उसने कहा कि समाज का पुराना ढाँचा ईश्वर का बनाया हुआ है और राजा-प्रजा का संबंध तो ईश्वर-कृत है। इसलिये जो भी इस संबंध में खलल डालता है, वह देश और ईश्वर का शत्रु है। उसने बड़े गर्व से लिखा—"हम ईश्वर से डरते हैं, राजाओं पर श्रद्धा करते हैं, पार्लमेण्ट से प्रेम करते हैं; मजिस्ट्रेटों के सामने अपना कर्त्तव्य पालते हैं, पुजारियों को सिर झुकाते हैं, सरदारों और सामंतों का आदर करते है। यह सब इसलिये कि ऐसा करना प्रकृति का ही नियम है।" इस प्रकृति के नियम को लेकर ब्रिटेन के शासक वर्ग ने त्राहि-त्राहि मचा दी।

इस काल में इंगलैण्ड की ग्राम-व्यवस्था टूट रही थी। पूँजी-वादी किसानों के मिले-जुले चरागाहों को और उनके पंचायती खेतों को छीन रहे थे। किसानों को जो हर्जाना देते थे, वह इतना

नहीं था कि वे फिर खेती कर सकें। वह सिर्फ़ ज़मींदार की गुलामी करने के ही क़ाबिल रह जाते थे। क्रान्ति का विरोध करने के बाद ब्रिटेन और अन्य देशों के पूँजीपतियों ने फ्रांस से लड़ाई छेड़ दी। इसमें धरती के नये मालिकों को मुनाफ़ाखोरी करने का ख़ूब मौक़ा मिला। लेकिन जनता भुखमरी का सामना करती रही। उद्योगधंधों के नये शहरों में आबादी बढ़ती गई। गाँव के उजड़े हुए किसान मज़दूरी के लिये यहाँ आने लगे लेकिन मिलों के मालिक या तो उन्हें बेकार रखते थे या मज़दूरी की दर भर-सक घटा कर देते थे। उन दिनों बच्चों और स्त्रियों को बड़ी ही भयानक परिस्थितियों में काम करना पड़ता था। मार्क्स ने 'कैपिटल' में इनका विशद चित्रण किया है। कभी कभी बच्चों से चौदह-चौदह घण्टे काम लिया जाता था और जब वे सो जाते थे तो उन्हें मारपीट कर जगाया जाता था। औरतें अँधेरी खानों में घुस कर काम करती थीं। गर्भवती होने पर भी उन्हें छुट्टी न दी जाती थी। १७९९ में प्रधान-मंत्री पिट ने एक क़ानून बनाया जिससे पगार बढ़वाने के लिये मज़दूरों का सङ्गठन करना ग़ैर क़ानूनी हो गया। अंग्रेज़ व्यापारी आज़ादी-आज़ादी तो बहुत चिल्लाते थे लेकिन यह आज़ादी सिर्फ़ व्यापार करने के लिये थी, मज़दूरों का संगठन करने के लिये नहीं। ओवेन, कॉबेट, पेन आदि साहसी विचारकों ने मज़दूर वर्ग और जनतंत्र का समर्थन किया लेकिन इसके लिये या तो उन्हें इंगलैण्ड ही छोड़ना पड़ा या मज़दूरों के संगठन का विचार ही तज देना पड़ा। सैकड़ों आदमी जेल भेज दिये गये, अदालतों ने उन पर जुर्माना किया और देश निकाले तक की सज़ा दी। इतिहासकार बकल ने लिखा है कि "इनका दोष यही था कि जिन बातों को सार्वजनिक सभाओं में और अख़बारों में निडर होकर हम आज कहते और लिखते हैं, उन्हें उस समय

इन लोगों ने भी कहा था।" बिना मजिस्ट्रेट की आज्ञा के जनता कोई सभा न कर सकती थी और सभा करने पर यदि बोलने वालों में राज्यद्रोह की गंध आई तो मजिस्ट्रेट फ़ौरन उन्हें पकड़ कर सभा भङ्ग कर सकता था। हुकुम देने पर लोग न हटें तो उन्हें मौत तक की सज़ा दी जा सकती थी। पुस्तकालयों को सख्त हिदायत थी कि अपने यहाँ अवाञ्छित साहित्य न रक्खें। यद्यपि यह सब हिंसा शासकवर्ग की ओर से हो रही थी, फिर भी हिंसा का आरोप मज़दूरों पर ही किया जा रहा था। अनाज के व्यापारियों ने 'कॉर्नलॉ' पास किये और मनमाने भाव पर नाज बेचकर जनता को भूखा मारा। इनके जासूस क्लबों, पानगृहों, काफ़ी हाउसों में भरे होते थे और इंगलैण्ड की साधारण जनता आज़ादी से साँस न ले सकती थी। इस प्रकार फ़्रांस की राज्यक्रान्ति से उत्पन्न होने वाले नये विचारों को रोकने में इंगलैण्ड के शासकों ने हर तरह के दमन और अत्याचार से काम लिया।

शासकों ने अपने देश में जनवादी भावनाओं को कुचल कर फ़्रांस के खिलाफ़ ज़बर्दस्त मोर्चाबन्दी की। औपनिवेशिक युद्धों में एक तरफ़ उन्होंने अपना राज्य-विस्तार किया, दूसरी ओर यूरोप के नये उगते हुए जनवाद को सदा के लिये ख़त्म कर देने की कोशिश की। शेली ने मैञ्चेस्टर में मज़दूरों की एक सभा पर शासकवर्ग के हथियारबन्द हमले पर—जो 'मैञ्चेस्टर मैसेकर' या मैञ्चेस्टर के हत्याकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है—अपनी प्रसिद्ध कविता 'मास्क ऑफ़ अनार्की' लिखी जिसमें उसने इस जनतंत्र को कुचलने के षड्यंत्र का भण्डाफोड़ किया। आज़ादी की व्याख्या करते हुए उसने कहा कि उसका दूसरा नाम शान्ति भी है जिसके लिये धन-जन की हानि नहीं की जाती जिस तरह कि फ़्रांस में की गई—

Thou art Peace; never by thee
Would blood and treasure wasted be
As tyrants wasted them, when all
Leagued to quench thy flame in Gaul.
What if English toil and blood
Was poured forth, even as a flood ?
It availed Liberty,
To dim, but not extinguish thee."

अंग्रेजों का परिश्रम और उनका रक्त सैलाब की तरह बहाया गया, परन्तु इससे स्वाधीनता की मूर्ति धुँधली भले हो गयी हो, वह नष्ट नहीं की जा सकी।

फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति और उसकी मूल प्रेरक विचारधारा यानी भौतिकवाद का बहुत बड़ा प्रभाव अंग्रेजी साहित्य पर पड़ा है। रोमांटिक साहित्य से ज्यादातर लोग यह समझते हैं कि वह एक तरह का कल्पना-विहार है जिसका वास्तविक जगत से बहुत कम सम्बन्ध है। निस्सन्देह उसमें कल्पना-विहार भी है परन्तु उसका कारण उस युग में एक सङ्गठित जन-आन्दोलन का अभाव है। इस सीमा के बावजूद यूरोप का रोमांटिक आन्दोलन मानवीय-चेतना की मुक्ति का महान् आन्दोलन है। १६वीं सदी के अंत में जब सामंतवाद के पैर पहली बार लड़खड़ाये थे तब रिनैसैंस ने अनुपम साहित्य की सृष्टि की थी। उसी से जुड़ी हुई यह दूसरी लहर थी जिसने सामंती और नये पूँजीवादी बंधनों के प्रति मनुष्य के असंतोष और विद्रोह को प्रकट किया और उसके स्वप्नों में भी एक नये समाज-निर्माण की तीव्र आकांक्षा को प्रकट किया। बिना फ्रांसीसी राज्यक्रांति और भौतिकवादी दर्शन पर विचार किये रोमांटिक साहित्य एक आकस्मिक दैवी

घटना ही लगेगी जिसका सामाजिक और राजनीतिक परिवर्त्तन से कोई सम्बन्ध न होगा। वर्ड्सवर्थ और कोलरिज की प्रारम्भिक रचनायें; शेली, कीट्स और बायरन की परिपक्व रचनायें अंग्रेजी साहित्य में आधुनिक जनतंत्र का प्रथम प्रकाश हैं।

वर्ड्सवर्थ और कोलरिज ने, जो रोमाण्टिक कवियों की पहली पीढ़ी के आचार्य हैं, काव्य के घिसे-पिटे विषयों को छोड़ कर जनसाधारण की ओर ध्यान देना आरम्भ किया। कोलरिज की रुचि आधि-दैविक स्वप्नों की ओर अधिक थी, इसलिये उसने 'सुपर-नेचुरल' को अपना काव्य विषय बनाया परन्तु यह जोर देकर कहा कि उसका चित्रण यथार्थवादी ढंग से होना चाहिये। वर्ड्सवर्थ ने इस बात की घोषणा की कि वह ग्राम-जीवन से घटनाओं और पात्रों को चुनकर कवितायें लिखेगा। रूसो के प्रभाव से वर्ड्सवर्थ ने प्रकृति और ग्रामीण-जीवन को एक भावुकता के आवरण से ढँक दिया। किसान प्रकृति के संसर्ग में रहते हैं इसलिये उनकी भाषा, भाव और विचार शहर के लोगों से अच्छे होने ही चाहिये, यह दावा उसने किया। कोलरिज ने आगे चलकर इसकी आलोचना की और इससे बिल्कुल उल्टा दावा किया कि भाषा को गढ़ने वाले साधारण अपढ़ लोग नहीं बल्कि बड़े-बड़े विचारक और दार्शनिक होते हैं। वर्ड्सवर्थ ने अपनी भावुकता को एक दार्शनिक रूप देने का विफल प्रयास किया। समाज के रोगों का निदान प्रकृति में नहीं था, उसे तो मनुष्य समाज में ही खोजना चाहिये था। परन्तु अठारहवीं सदी के दरबारी साहित्य की भाषा को तिलाञ्जलि देकर उसने अंग्रेज़ी साहित्य का बहुत बड़ा उपकार किया और उस समय के नगरों की कृत्रिम सभ्यता से दूर जाकर किसान-जीवन पर ध्यान केन्द्रित करके जनतंत्र की नयी भावना को ही व्यक्त किया। कोलरिज ने

भाषा और जनता के सामाजिक सम्बन्ध को न समझ कर उसे एक थोथा आध्यात्मिक रूप देने की कोशिश की। परन्तु काव्य कौशल की विवेचना करते हुए उसने भावना के सहज विकास और छन्द रचना के प्रयत्न-साध्य तत्त्वों को द्वन्दात्मक ढंग से भी जोड़ा। साहित्य शास्त्र को उसकी यह देन है।

वर्ड्सवर्थ की प्रारम्भिक रचनाओं में ग्रामीण समाज और प्रकृति का यथार्थवादी चित्रण मिलता है। परन्तु जैसे-जैसे जनतंत्र से उसकी आस्था हटती गयी, वैसे-वैसे उसकी आध्यात्मिकता भी रंग पकड़ती गयी। अंत में उसकी सारी प्रतिभा क्षीण हो गयी और यद्यपि उसने लिखना जारी रक्खा, फिर भी इस लिखने की परिणति पूँजीवादी इंगलैण्ड के राजकवि बनने में हुई। फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति से कोलरिज को जो यथार्थवादी शैली अपनाने की प्रेरणा मिली थी, वह क्रमशः जर्मन आदर्शवाद में विलीन होती गयी और अफ़ीम ने इस काम में सहायता की। जीवन के उत्तरार्द्ध-काल में वह अपनी प्रतिभा के प्रथम प्रकाश तक फिर न पहुँच सका और इसका कारण उसके विचारों में ही ऐसा परिवर्त्तन था जो साहित्य के लिये घातक था।

इन दोनों कवियों के विपरीत शेली, कीट्स और बायरन अपने अंत समय तक बराबर विकसित होते गये और अंतिम कविताओं में जो परिवर्त्तन उनमें दिखाई देता है, वह काव्य के लिये इसीलिये लाभदायक है कि वे जनतंत्र के अधिक निकट आये थे। ये तीनों कवि फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति के समर्थक थे और इंगलैण्ड के शासकवर्ग के पक्के दुश्मन थे। इनकी अकाल मृत्यु के लिये बहुत कुछ इंगलैण्ड का शासकवर्ग भी उत्तरदायी है जिसने इनके जीवन को एक भयानक संघर्ष बना दिया था और तीनों को ही विदेश में प्राण देने पर मजबूर किया था।

शेली पहले गॉडविन के प्रभाव में आया। गॉडविन ने भौतिकवादी विचारकों से प्रभावित होकर सामाजिक परिवर्त्तन के लिये शिक्षा के महत्त्व की घोषणा की थी। परन्तु इस शिक्षा में सामाजिक संगठन और क्रान्ति के लिये कहीं गुंजाइश न थी। केवल विचार और कल्पना से ही वह बड़े-बड़े परिवर्त्तनों के स्वप्न देखता था। शेली पर इसका बहुत प्रभाव पड़ा और गॉडविन की कमज़ोरियाँ उसकी रचनाओं में भी दिखाई दीं। जिन परिवर्त्तनों का वह चित्रण करता है, उन्हें संयोजित करनेवाले मनुष्य नहीं कुछ दैवी शक्तियाँ सी जान पड़ती हैं। परन्तु बाद में शेली ने इस धारणा को त्याग दिया।

इसी प्रकार पहले पहल उसने यूरोप के आदर्शवादी विचारक प्लैटो के चरणचिह्नों पर चलते हुए नारी के सौंदर्य में पूर्ण सत्य देखने की चेष्टा की। इस कार्य में बार बार असफल होने पर उसने प्लैटो का साथ भी छोड़ा और जीवन के अंतिम तीन-चार वर्षों में उसने जो प्रेम-कवितायें लिखीं हैं, उनमें प्लैटो के आदर्श-सौन्दर्य की खोज के बदले मानव-सुलभ सुख-दुख और संयोग-वियोग की ही चर्चा की है। उसने इस बात का अनुभव किया कि मनुष्य के विचार भी उसके भौतिक-जीवन से ही उत्पन्न होते हैं (The most astonishing combinations of poetry, the subtlest deductions of logic and mathematics, are, no other than combinations which the intellect makes of sensations according to its own laws.) मानव मस्तिष्क के लिये उसने कहा कि भौतिकता से परे यह कोई शुद्ध वस्तु नहीं है। भौतिक गति से ही चेतना की सृष्टि होती है। (Mind cannot be considered pure. It is said that mind produces motion; and it might as well have been said

that motion produces mind.) शेली ने प्रतिक्रियावाद के समर्थक विचारकों पर तीव्र आक्रमण किया। अर्थशास्त्री माल्थस ने कहना शुरू किया था कि मज़दूर वर्ग अधिक संतान उत्पत्ति करता है, इसलिये आबादी बढ़ने से उसकी निर्धनता क़ायम रहती है। शेली ने कहा कि ऐसे लोगों के विचार समाज के शोषकों की सहायता करते हैं और उनकी विजय को स्थायी बनाते हैं। फ़्रांस में जो हत्याकाण्ड हुआ था, उसका दोष उसने प्रतिक्रियावादियों के सिर मढ़ा। कविता के समर्थन में उसने एक बहुत बड़ा लेख 'डिफ़ेंस ऑफ़ पोएज़ी' लिखा जिसमें उसने कवि को समाज का निर्माता बनाया। कवि सौन्दर्य का दर्शन करता है परन्तु यह सौन्दर्य मनुष्य के हृदय में नयी भावनाएँ उत्पन्न करता है और इस प्रकार वह नये समाज-निर्माण की ओर बढ़ता है।

१८२० के आस-पास यूरोप के देशों में नये जनवादी आन्दोलन चल रहे थे। शेली ने स्पेन, इटली, ग्रीस आदि के स्वाधीनता-संग्राम पर नयी-नयी कवितायें लिखीं। ग्रीस पर उसका गीत 'The worlds great age begins anew' राजनीतिक गीतिकाव्य का श्रेष्ठ निदर्शन है। शेली ग्रीस के प्राचीन वैभव का स्मरण करता है परन्तु घोषित करता है कि नया जनतांत्रिक ग्रीस उससे भी अधिक वैभवशाली बनेगा। कीट्स की मृत्यु से उसे बड़ा आघात लगा और उसकी मृत्यु पर उसने अपना अनुपम शोकगीत 'एडोनिस' लिखा। इस कविता में शोक और करुणा के साथ-साथ एक महान् आशावाद भी है जो कहता है कि महान्-कवि कभी मरते नहीं हैं और समाज पर अपना स्थायी प्रभाव छोड़ जाते हैं। यह सही है कि कीट्स इतना निर्बल नहीं था कि विरोधी आलोचना से उसकी अकाल मृत्यु हो जाती परन्तु यह

भी सत्य है कि आलोचकों की उपेक्षा और विरोध ने उसकी मानसिक उलझन को और बढ़ा दिया था और इस प्रकार उसके रोग को अधिक घातक बना दिया था।

इस काल की रचनाओं में प्रेम और सौन्दर्य हवाई न रहकर शेली के भौतिक जीवन में घुल मिल कर आते हैं। वह आदर्श सौन्दर्य की भीख माँग कर अमर होना नहीं चाहता बल्कि अपनी निर्बलता में कुछ देर के लिये प्रेम का सहारा चाहता है।

"My cheek is cold and white, alas !
My heart beats loud and fast !
Oh ! press it close to thine again
Where it will break at last.

(मेरा शरीर निर्जीव सा हो रहा है और हृदय का स्पन्दन बढ़ता जाता है। इसे अपने से लगा लो जहाँ आख़िर में वह नष्ट हो जायेगा।) इसी प्रकार 'ओड टु द वैस्ट विण्ड' में उसने बड़े कातर स्वर में कहा है—

Oh, lift me as a wave, a leaf, acloud !
I fall upon the thorns of life ! I bleed !

(मुझे लहर, बादल और पेड़ के पत्ते की तरह उठा लो। जीवन के काँटों पर मैं गिर पड़ता हूँ और लहू-लुहान हो जाता हूँ।) इस वेदना के कारण शेली अपने युग का सब से बड़ा गायक बन गया है। उसकी कविता के सहज सङ्गीत और भावों का स्वाभाविक उन्मेष अन्यत्र दुर्लभ है। १६वीं और २०वीं सदी के सभी मानववादी लेखकों पर उसका प्रभाव पड़ा है। भारत के महाकवि रवीन्द्रनाथ को शुरू में बङ्गाल का शेली कहा जाता था।

शेली में भावुकता के साथ व्यंग्य का अद्भुत सम्मिश्रण है।

वर्ड्सवर्थ की पैरोडी लिखते हुए 'पीटर बैल' में उसने इसका अच्छा परिचय दिया है। नरक के लिये उसने कहा है कि यह लन्दन से मिलता-जुलता एक शहर है जहाँ बहुत घनी आबादी है और चारों तरफ़ धुआँ छाया रहता है। यहाँ पर ज़िन्दा रहना मज़ाक नहीं है क्योंकि सैकड़ों आदमी रोज़ तबाह होते रहते हैं। न्याय यहाँ बहुत कम है और दया तो उससे भी कम।

"Hell is a city much like London—
A populous and a smoky city ;
There are all sorts of people undone,
And there is little or no fun done ;
Small justice shown and still less pity."

इस कविता का आधार एक नये वर्ग-संघर्ष की भावना है। शेली यह स्पष्ट देख रहा था कि तमाम सामाजिक आचार-विचार, व्यवस्था, नियम आदि का उद्देश्य यही होता है कि समाज के अधिकांश भाग को थोड़े से आदमी दबाकर रक्खें। यह भावना उसकी कविता 'मास्क ऑफ़ अनार्की' में जोरों से प्रकट हुई।

जिस समय मैञ्चेस्टर का हत्याकाण्ड हुआ, उस समय शेली इटली में था। श्रीमती शेली ने लिखा है कि जिस समय शेली ने इसका हाल सुना तो उसके हृदय में तीव्र सहानुभूति और क्रोध एक साथ प्रकट हुए (It roused in him violent emotions of indignation and compassion.) १६ अगस्त १८१६ को लगभग ६०,००० आदमी, औरत और बच्चे मैञ्चेस्टर शहर के सेन्टपीटर मैदान में इकट्ठा हुए। मैञ्चेस्टर इंगलैण्ड का औद्योगिक केन्द्र है जहाँ के बने हुए कपड़े—हिन्दुस्तान

के जुलाहों के अँगूठे काटने के बाद—हमारे देश में बेचे जाते थे। ये सब मज़दूर मर्द, औरत और बच्चे हण्ट नामके मज़दूर नेता की बातें सुनने आये थे। पुलिस और फ़ौज के सशस्त्र घुड़सवार इस सभा को तोड़ने के लिये भेजे गये। इतिहासकार ट्रेवेलियन ने इस घटना का यों वर्णन किया है, "हमला होने पर मनुष्यों की वह घनी भीड़ चीखती चिल्लाती हुई मैदान से भागी। टोरीदल के समर्थक घुड़सवारों ने बड़े उत्साह से तलवारें भाँजीं। उस दिन की हलचल में ग्यारह आदमी जान से मारे गये जिनमें से दो स्त्रियाँ थीं। सौ से ऊपर तलवारों से घायल हुए थे। कई सौ से ऊपर भीड़ के भागने पर या घोड़ों की टापों के नीचे आने पर जख्मी हो गये थे। घायल स्त्रियों की संख्या सौ से ऊपर थी।" (British History in the 19th. century.)

शेली ने सीधी भाषा में इंगलैण्ड के मजदूरों और साधारण जनता के लिये यह कविता लिखा थी जिसमें ९१ बन्द (Stanzas) हैं। इंगलैण्ड के राजनीतिज्ञों के असली रूप को उसने दिखाया जो वास्तव में अराजकता के भक्त थे जो उससे कहते थे, तू ही ख़ुदा है, तू ही न्याय है, तू ही बादशाह है। पुजारी, वकील, राजनीतिज्ञ, किराये के हत्यारे सब मिल कर कहते थे, हमारी थैलियाँ खाली हो गयी हैं, तलवारें ठण्डी पड़ गयी हैं, हमें धन दो, कीर्त्ति दो और रक्त दो।

Our purses are empty, our swords are cold,
Give us glory, and blood, and gold.

जहाँ-जहाँ अराजकता और उसकी फ़ौज के चरण पड़े, वहाँ-वहाँ साधारण जनता रक्त में डूब गयी। इतना रक्तपात देखकर स्वयं धरती एक माता की व्यथा से पीड़ित होकर बोल उठी—

Men of England, heirs of Glory
Heroes of unwritten story,
Nurslings of one mighty mother,
Hopes of her, and one another ;
Rise like Lions after slumber,
In unvanquishable number,
Shake your chains to earth like dew—
Which in sleep had fallen on you—
Ye are many—they are few.

(इंगलैण्ड के आदमियो, जिनकी गौरव शाली परम्परा है ! तुम अलिखित इतिहास के वीर हो। एक शक्तिवती माता के पुत्र हो। उस माता की, और एक दूसरे की, आशा हो। उठो, जैसे नींद के बाद शेर उठते हैं। अजेय संख्या में उठो और ये जंजीरें जो सोते समय तुम पर गिर पड़ीं थीं, जमीन पर ओस की बूँदों की तरह गिरा दो। तुम असंख्य हो और तुम्हारे दुश्मन मुट्ठी भर हैं।)

कविता के अंत में शेली ने वास्तविक जनतंत्र का रूप भी दिखाया। इस जनतंत्र में भाग लेने वाले केवल उच्चवर्गों के लोग न होंगे बल्कि वे लोग भी होंगे जो जीवन के दैनिक संघर्ष में रोटी और कपड़े की समस्यायें हल किया करते हैं। इस जनतंत्र को क़ायम करने के लिये उसने एकता और दृढ़ता से शत्रु का मुक़ाबला करने के लिये जनता को ललकारा। शेली के जीवन में यह कविता नहीं छपी। उसके मित्र ली हण्ट ने यह बहाना किया कि जनता अभी इतनी शिक्षित नहीं हुई जो कवि की सच्चाई और सहानुभूति का आदर कर सके। ली हण्ट का मतलब शायद गिने-चुने पूँजीवादी आलोचकों से था। भारत और इंगलैण्ड

का शिक्षक-समुदाय उन आलोचकों की तरह आज भी उस सहानुभूति और सच्चाई का आदर करने में असमर्थ दिखाई देता है। परंतु शेली की भविष्यवाणी आज सच हो रही है—

The world's great age begins anew
The golden years return,
The earth doth like a snake renew
Her winter weeds outworn;
Heaven smiles and faiths and empires gleam,
Like wrecks of a dissolving dream.

(संसार में एक महान् युग आरंभ हो रहा है। स्वर्णयुग फिर लौट रहा है। जिस तरह साँप अपनी केंचुल बदलता है, उसी तरह शीतकाल के फटे चीथड़ों को धरती बदल रही है। आकाश प्रसन्न है और स्वप्न के बिखरते हुए पदार्थों की तरह धर्म और साम्राज्य अपना अंतिम प्रकाश दिखा रहे हैं।)

इस भविष्यवाणी की प्रेरणा फ़्रांस की राज्यक्रान्ति और नये भौतिकवाद से ही मिली थी।

फ़्रांस की राज्यक्रान्ति के बारे में रोमाण्टिक पीढ़ी के सबसे तरुण कवि कीट्स ने लिखा था—"उन्होंने (यानी शासक वर्ग ने) इस घटना को हमारी स्वाधीनता का अपहरण करने के लिये एक अस्त्र बना लिया है। किसी तरह की भी नवीनता और सुधार के खिलाफ़ उन्होंने एक भयानक अंधविश्वास फैला रक्खा है।" कीट्स एक सौंदर्यवादी कवि था; १६वीं सदी के अनेक शुद्धकलाके उपासकों ने उसे अपना गुरु माना था। उसने अपने काव्य में प्राचीन ग्रीस और मध्यकालीन यूरोप का सांस्कृतिक स्वप्न जगाने की चेष्टा की थी। चित्रमयता और

इन्द्रियबोध की सूक्ष्मता में उसकी जोड़ का दूसरा कवि नहीं है। परंतु यह उसका एक ही पहलू था। दूसरा पहलू फ्रांसीसी राज्यक्रान्ति की छाया में पनप रहा था और उसने कीट्स के मन में एक द्वन्द की सृष्टि कर दी थी कि साहित्य केवल विलास की वस्तु हो जाये या उससे संसार का उपकार भी हो। कीट्स के आलोचकों ने उस पर जो बर्बरतापूर्ण आक्रमण किया था, उसका वास्तविक कारण कीट्स की राजनीतिक विचारधारा ही थी।

लीहण्ट राजा के खिलाफ़ कुछ लिखने के अपराध में जेल भेज दिया गया था। कीट्स की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक उसके छूटने पर है जिसमें उसने कहा था कि ली हण्ट को जेल भेजने वाले जब मर जायेंगे, तब भी संसार उसे याद करेगा। इस तरह की कविताओं से ली हण्ट के दुश्मन कीट्स के दुश्मन भी बन गये। एक दूसरी कविता "ईसाबेला" में जो उसके प्रारम्भिक विकास काल की है, उसने पूँजीपतियों के लिये लिखा था—"इन्हीं के लिये लोगों ने अपना पसीना बहाया। शोर करती हुई मिलों में और मशाल जलाकर खानों के भीतर इनके लिये श्रम किया है। जो आदमी अपने शारीरिक गठन पर गर्व कर सकते थे—उन्हें कोड़ों से मार कर लहूलुहान कर दिया गया है।" कीट्स ने अच्छी तरह देखा था कि इनसे संस्कृति का ह्रास हो रहा है। ये अपनी लाल लकीरों वाली बही को ग्रीस के गीतों से अधिक सुंदर मानते हैं।

कीट्स एक ग़रीब ख़ान्दान में पैदा हुआ था। साधारण जनता को वह बहुत नज़दीक से जानता था। प्लैटो की अपेक्षा उसने अलिफ़लैला के क़िस्सों को ज्यादा ध्यान से पढ़ा था। जनगाथाओं से उसे बेहद दिलचस्पी थी। उस युग के अनेक

विचारकों की तरह उसे इस बात पर विश्वास नहीं था कि मनुष्य का स्वभाव एक दम बदल जायेगा और संसार में एक नया स्वर्ग रच जायेगा। सितम्बर १८१६ के अपने एक पत्र में उसने मानवविकास पर अपने विचार प्रकट किये थे। सामंतशाही के खिलाफ़ जनता और राजा के मोर्चे के महत्त्व को उसने समझा था। आगे चलकर राजा ने कोशिश की कि जनता के अधिकारों को दबा दे। इसमें उसे पूरी सफलता नहीं मिली। कीट्स को उन लेखकों पर गर्व था जिन्होंने अपनी रचनाओं में विद्रोह के वे बीज बोये, जिन्होंने फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति का वृक्ष उत्पन्न किया। उसने देखा कि १९वीं सदी में शासक वर्ग फिर कोशिश कर रहा है कि मध्यकालीन निरंकुशता की ओर लौट चलें। उसे विश्वास था कि फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति के बाद प्रतिक्रियावादी हमले ने कुछ देर के लिये मानवप्रगति को रोक दिया था लेकिन अब फिर लोग सही रास्ते पर बढ़ चले हैं।

कीट्स ने १८वीं सदी की दरबारी संस्कृति और साहित्यिक रूढ़ियों का ज़ोरों से विरोध किया। फ़्रांस की जिस दरबारी कविता से अंग्रेज़ प्रभावित हुए थे, उनकी भी उसने ज़ोरों से निंदा की। इस तरह उसने वर्ड्सवर्थ के विद्रोह को पूर्ण किया। अंतिम दिनों में इटली के महान् कवि दान्ते को उसने मूल में पढ़ना शुरू किया। दान्ते की सहज यथार्थवादी शैली, उसकी मानवीय सहानुभूति और करुणा से वह बहुत प्रभावित हुआ। उसने अपनी सुंदर कृति 'हाइपीरियन' को दोहरा कर लिखा। इस नये रूप में उसने कवि-कर्त्तव्य की भी चर्चा की। सौंदर्य-स्वप्न मात्र देखने वालों की उसने तीव्र निन्दा की और कहा कि महान् कवि वही हैं जिनका हृदय संसार के दुःख से द्रवित होता है और उन्हें चैन से नहीं बैठने देता। इसलिये कवि को

एक ऐसा मानववादी विचारक होना चाहिये जो मनुष्य के दुखदर्द को दूर कर सके (A sage; a humanist, physician to all men.) दान्ते के प्रभाव से उसने इस नये सिद्धान्त का प्रतिपादन किया कि बिना दुख के सौंदर्य की कल्पना नहीं की जा सकती। कवि को इसी धारणा के बल पर समस्त विश्व को देखने परखने की नयी शक्ति मिलती है।

कीट्स और शेली, दोनों की ही अपेक्षा यूरोप के स्वाधीनता संग्राम से बायरन का और भी निकट सम्पर्क था। इटली और विशेष रूप से ग्रीस के स्वाधीनता आन्दोलनों में उसने सक्रिय भाग लिया था। अपनी नाटकीय-कविताओं में उसने रोमांटिक हीरो की सृष्टि की। इस हीरो की अतिरञ्जित वीरता और प्रेमलीला ने अभिजात वर्ग में उसे लोकप्रिय बना दिया। लेकिन उसने एक दूसरी प्रकार की रचनायें भी कीं जिनमें उसने यूरोप की जनता को अपनी आज़ादी के लिये लड़ने को ललकारा। इन कविताओं से वही अभिजात वर्ग उसका बैरी हो गया और बायरन पर अनैतिक होने का दोष लगाकर उसके लिये देश में रहना असंभव कर दिया। यह अभिजात वर्ग कितना नैतिक स्वयं था, इसका खाका बायरन ने अपने व्यंग्य-महाकाव्य 'डॉन जुआन' में खींच दिया था।

'चाइल्ड-हैरॉल्ड की यात्रा' नामक काव्य में विशेषकर उसके तीसरे और चौथे सर्गों में उसने यूरोप की दशा का वर्णन किया। उसने लोगों को अपने प्राचीन गौरव की याद दिलाई और देश को फिर स्वाधीन करने के लिये ललकारा। ग्रीस के बारे में उसने एक बहुत ही सुन्दर गीत लिखा—

The mountains look on Marathon
And Marathon looks on the sea;

And musing there an hour alone,
I thought that Greece might yet be free.

मराथॉन ग्रीस की प्रसिद्ध समर-भूमि है जहाँ पर ग्रीक वीरों ने विदेशी आक्रमणकारियों को परास्त किया था। उस मैदान को देखकर बायरन सोचता है कि क्या ग्रीस फिर स्वतंत्र हो सकता है। वह एकता के महत्त्व को समझता था और इटली-निवासियों से उसने कहा था कि अगर अपने दुश्मनों को आल्प्स की सीमा के उस पार खदेड़ देना चाहते हो तो एक हो जाओ। (Her sons may do this with one deed, Unite.) 'दान्ते की भविष्यवाणी' नामक कविता में उसने उन कवियों का मखौल उड़ाया जो शासक वर्ग की चाटुकारिता में ही काव्य की परम सिद्धि मानते थे। इसी प्रकार इंगलैण्ड के राजकवि सदे का भी उसने बार-बार विद्रूप किया।

बायरन रोमाण्टिक कवि होने के साथ एक सफल व्यंग्यकार भी था। यह प्रवृत्ति शेली में भी थी परंतु इस कोटिकी रचनायें उसकी कम हैं जब कि बायरन ने बड़ी और छोटी अनेक कवितायें इसी बहाव में लिखी हैं। 'डॉन जुआन' में यूरोप और इंगलैण्ड के अभिजातवर्ग की कथित नैतिकता का उसने निरावरण कर दिया। जहाँ-तहाँ राज्यसत्ता और आदर्शवादी विचारकों पर भी छींटाकशी की है। 'गॉड सेव द किंग' का मजाक़ बनाते हुए उसने लिखा कि अगर गॉड बादशाह को न बचायेगा तो जनता तो उसे नहीं बचायेगी। आदर्शवादी बर्कले के लिये उसने श्लेष द्वारा कहा कि यथार्थ को इन्कार करना निरर्थक है।

When Bishop Berkley said, there was no matter,
And proved it—'twas no matter what he said.

प्लैटो के लिये उसने कहा कि अपने स्वप्न-जाल से तमाम कवियों और कथाकारों की अपेक्षा तुमने समाज को ज्यादा अनैतिक बनाया है। अपने नाटकों में उसने पाप-पुण्य की प्राचीन धार्मिक विचारधारा का खण्डन किया। उसे पूर्ण विश्वास था कि यद्यपि प्रतिक्रियावाद शक्तिशाली हमले कर रहा है, फिर भी उसकी पराजय निश्चित है। उसने भविष्यवाणी की कि अंत में जनता जीतेगी। "There will be blood-shed like water, and tears like mist; but the people will conquer in the end. I shall not live to see it but I foresee it." (आदमी का ख़ून पानी की तरह बहेगा, आँसू के बादल उठेंगे, लेकिन अंत में जनता जीतेगी। मैं उसकी जीत देखने के लिये जिन्दा न रहूँगा लेकिन मन की आँखों से मैं उसे अभी देख रहा हूँ।)

भौतिकवादी दर्शन और फ़्रांस की राज्य-क्रान्ति ने साहित्य में जनतांत्रिक-विचारधारा को प्रतिष्ठित किया। सामंतशाही के ध्वंस के साथ-साथ पुराने समाज में पाली-पोसी हुई साहित्यिक रूढ़ियाँ भी ख़त्म हुईं। अतिरञ्जित कल्पना के बावजूद इंगलैण्ड के रोमाण्टिक कवियों ने नये जन-साहित्य की नींव डाली जिसके बिना २०वीं सदी की साहित्यिक प्रगति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। उन्हीं की तरह यूरोप के अन्य देशों में भी नये-नये रोमाण्टिक आन्दोलन चले जिनमें उग्र राजनीतिक भावना बराबर विद्यमान रहती थी। फ़्रांस के महान् लेखक विक्तर ह्यूगो ने अपने विश्वप्रसिद्ध उपन्यासों की रचना की। 'ले शातिमाँ' नाम की कविताओं में उसने राज्यसत्ता पर तीक्ष्ण व्यंग्य किया। 'ला लेजांद द सियेक्ल' नामक संग्रह में फ़्रांस के निम्न वर्गों का चित्रण किया। फ़ासिस्ट विरोधी फ़्रांस के नये

कवियों ने उस क्रान्तिकारी-धारा को आगे बढ़ाया। लेकिन इसके पहले यूरोप में एक दूसरी महाक्रान्ति हुई जिसने १८वीं सदी के प्रारम्भिक भौतिकवाद को एक नया रूप दिया और राजनीति की तरह साहित्यिक क्षेत्र में भी व्यापक परिवर्त्तन किये।

फ्रांस की तरह रूस की राज्य-क्रान्ति के लिये भी लेखकों और विचारकों ने पहले से मार्ग प्रशस्त करना शुरू कर दिया था। नये सोवियत रूस में जिस लेखक की रचनायें सबसे ज्यादा पढ़ी जाती हैं और जिसे रूसी साहित्य का जन्मदाता कहा जाता है, उस पुश्किन ने क्रान्तिकारी-विचारधारा पर अमिट प्रभाव डाला है।

ज़ार के विरुद्ध जो पहला सशस्त्र विद्रोह हुआ, उसके लिये पुश्किन के हृदय में सहानुभूति ही न थी बल्कि विद्रोहियों को उत्साहित करने वालों में उनका मित्र स्वयं पुश्किन भी था। असफल विद्रोह के बाद क्रान्तिकारियों की तलाशी में उनके पास पुश्किन की कवितायें पायी गयीं। शेक्सपियर और बायरन का वह अनन्य उपासक था। फ्रांस की प्राचीन दरबारी संस्कृति का उसने विरोध किया परन्तु राज्य-क्रान्ति के बाद के लिखे हुए साहित्य का वह समर्थक था। पुश्किन का सबसे बड़ा समर्थक रूसी आलोचक बेलिन्स्की हुआ जो रूसी आलोचना का जन्मदाता भी था। ३६ साल की उम्र में उसका शरीरान्त हो गया परन्तु इतने ही दिनों में उसने रूसी आलोचना का सम्बन्ध भौतिकवाद से जोड़ दिया।

अनेक होनहार लेखकों की तरह बेलिंस्की को विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था। उसने दास-प्रथा के बारे में एक नाटक लिखा था जिससे मॉस्को विश्वविद्यालय के अधिकारी

असंतुष्ट हो गये थे। उसने जर्मन भौतिकवादी आवरबाख़ का अध्ययन किया और साहित्य में भौतिकवादी दर्शन का प्रतिपादन किया। अंत में वह समाजवादी हो गया और इसी व्यवस्था में मनुष्य और साहित्य का कल्याण देखने लगा। उसके अनुसार साहित्य का उद्देश्य होना चाहिये, जनता को शिक्षित करना जिससे कि वे अपने जीवन की भौतिक परिस्थितियों को बदल सकें। वह पुश्किन का समर्थक इसलिये था कि उसकी कविताओं से जनता को यह प्रेरणा मिलती थी। लेनिन ने बेलिंस्की के महत्त्व का उल्लेख करते हुए कहा था कि वह उन लोगों का अगुआ है जिन्होंने दास-प्रथा को ख़त्म करने के लिये जागीरदारों का विरोध किया था। रूसी लेखक गोगल को बेलिन्स्की ने एक मशहूर ख़त लिखा था जिसमें ज़ारशाही की तरफ़ झुकने के लिये उसकी निंदा की थी।

बेलिन्स्की के अलावा एक दूसरे साहित्यकार चर्निशेव्स्की ने समाजवाद की नींव डाली। यूरोप में १८४८ के आसपास जो क्रान्तिकारी उठान आया था, उससे वह बहुत प्रभावित हुआ था। किसानों का पक्ष-समर्थन करने के लिये उसे साइबेरिया में निर्वासन-दण्ड मिला। वहाँ से लौटने पर उसे अपने जन्मस्थान न जाने दिया गया। अपनी मृत्यु के कुछ दिन पहले ही वह फिर वहाँ जा सका। उसने एक उपन्यास लिखा—"क्या करें" जिसका बुद्धिजीवी वर्ग पर गहरा असर पड़ा। वह वैधानिक सुधारों का विरोधी था और मानता था कि बिना उथल-पुथल के प्रगति नहीं होती। कला और यथार्थ जीवन के सम्बन्ध पर १८५५ में उसने एक पुस्तिका लिखी। 'सव्रेमेन्निक' नामक पत्रिका में दो अन्य बड़े साहित्यकारों दोब्रोल्यूबोव और नेक्रासोव के साथ उसने क्रान्तिकारी विचारों का प्रतिपादन किया। उसके उपन्यास

के लिये यह दावा किया गया था कि उससे प्रगतिशील विचारकों ने समाजवाद का रास्ता पहचान लिया।

१६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में नये विचारों को दबा देने के लिये ज़ारशाही दमन-चक्र ज़ोरों से चल रहा था। एक पुरानपंथी इतिहासकार सर बर्नार्ड पेयर्स के अनुसार भी रूस के बुद्धिजीवी वर्ग और सरकार में खुली लड़ाई शुरू हो गयी थी ("Thus there was open war between the government and the Russian Intelligence," Cambridge Modern History Vol. XII.)। लेखकों और बुद्धिजीवियों ने इस दमन का विरोध किया। हर्ज़ेन ने इंगलैण्ड से अपना क्रान्तिकारी पत्र चलाया और नये चिंतन को आगे बढ़ाया। १६वीं सदी के आखीर में कई मार्क्सवादी पत्रिकायें प्रकाशित होने लगीं।

वैज्ञानिक भौतिकवाद का अध्ययय करने, उसे विकसित करने, बीसवीं सदी के साम्राज्यवाद की परिस्थितियों में उसे लागू करने और एक क्रान्तिकारी आन्दोलन को उसी के आधार पर निर्मित करने का काम लेनिन ने किया। एक महान् संगठन-कर्ता होने के साथ-साथ लेनिन इतिहास, अर्थशास्त्र, दर्शन और इनके साथ साहित्य के भी पंडित थे। रेनैसंस काल में जिन विद्वानों और कलाकारों के भरे-पूरे सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन का उल्लेख एंगेल्स ने किया था, उसकी बेजोड़ नयी मिसाल लेनिन थे। रूसी और कुछ विदेशी साहित्यकारों और विचारकों पर उन्होंने जो विचार प्रकट किये हैं, वे मार्क्सवादी अध्ययन शैली का उत्कृष्ट निदर्शन हैं। उन्होंने कहा था कि कम्युनिज्म उस सांस्कृतिक चेतना को विकसित करता है जिसे मनुष्य जाति ने अपने हज़ारों वर्षों के इतिहास में अर्जित किया

है। इस नियम के अनुसार वे मार्क्सवाद को एक विकासमान दर्शन मानते थे। फ्रांस और रूस की दो राज्य-क्रान्तियों के बीच मार्क्स, एंगेल्स और लेनिन ने भौतिकवादी दर्शन को नया रूप देकर संसार के क्रान्तिकारियों को यह अमोघ अस्त्र भेंट किया।

मार्क्स ने स्वयं फ्रांस की राज्य-क्रांति, १८वीं सदी के भौतिकवाद, जर्मनी के दर्शन शास्त्र के अध्ययन और अनुभव से लाभ उठाकर वैज्ञानिक भौतिकवाद की नींव डाली थी। लेनिन ने मार्क्स पर १९१४ में लिखे हुए अपने लेख में उन विभिन्न तत्त्वों की चर्चा की जिनके आधार पर मार्क्स ने अपना नया शास्त्र रचा था। जर्मनी का दर्शन, इंगलैंड का अर्थशास्त्र और फ्रान्स के समाजवाद तथा अन्य क्रान्तिकारी धाराओं को मार्क्स ने एक जगह बटोरा। मार्क्स ने आदर्शवादी दर्शन को तिलाञ्जलि दे दी जो स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से धार्मिक रूप ले लेता था। पुराने भौतिकवाद की यांत्रिकता को उन्होंने त्याग दिया और उसे द्वन्द्ववाद के नये सिद्धान्त से भरा-पूरा बनाया। यह संसार यथार्थ है; बर्कले की तरह उसकी सत्ता मनुष्य के मन या ईश्वरी चेतना में नहीं है। यथार्थ में विरोधी तत्त्व होते हैं और इनके संघर्ष से विकास संभव होता है। प्रकृति में परिमाणात्मक परिवर्तनों से गुणात्मक परिवर्तन होते हैं; इसलिये विकास की क्रिया क्रमशः होने के साथ क्रान्तिकारी परिवर्तनों के साथ भी होती है। इस द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की कसौटी स्वयं प्रकृति है। प्रकृति-विज्ञान ही उसकी सचाई सिद्ध करता है और उसे समाजशास्त्र पर लागू करके इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या की जा सकती है। पहले के इतिहासकार व्यक्ति के मनोभावों और आकांक्षाओं का चित्रण करके रह जाते थे; सामाजिक संबन्ध क्या हैं,

उनके वैज्ञानिक नियम क्या हैं, उनकी ओर ध्यान न देते थे। दूसरी ओर उनका इतिहास राजा-रानियों और कुछ थोड़े से वीरों का इतिहास होता था; उसमें से उत्पादक शक्ति यानी जनता गायब रहती थी। मार्क्स ने बताया कि मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं परन्तु उनकी ऐतिहासिक क्रिया का आधार उत्पादन की भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं। इन परिस्थितियों से लोगों के मनोभाव, आकांक्षाएँ, विरोधी विचार-धाराओं के संघर्ष नियमित होते हैं। मार्क्स ने असंगतियों और अन्तर्विरोधों से भरे हुए ऐतिहासिक क्रम के वैज्ञानिक नियमों का पता लगाया।

कम्युनिस्ट घोषणा-पत्र में मार्क्स ने लिखा था—"अब तक के मानवसमाज का इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास है।" उत्पादन-क्रम में इन वर्गों का निर्माण होता है। वर्ग-संघर्ष के साथ उत्पीड़न जुड़ा हुआ है। पूँजीवादी समाज में मजदूर और पूँजीपतियों के द्वन्द्व के रूप में यह संघर्ष और भी स्पष्ट होकर हमारे सामने आता है। मार्क्स ने बताया कि मजदूर-वर्ग ही वास्तविक रूप से क्रान्तिकारी है और इसलिये पूँजीवादी समाज का नाश करके नये समाज के निर्माण में वह अग्रदल का काम कर सकता है। क्रान्ति के समय किसानों और मज़दूरों के संयुक्त मोर्चे से पूँजीवादी शक्तियों को कैसे परास्त किया जा सकता है, यह लेनिन ने रूस की क्रान्ति में दिखाया। एक ही देश में समाजवादी व्यवस्था कायम करके विश्व-समाजवाद की शक्तियों को कैसे आगे बढ़ाया जा सकता है, यह स्तालिन ने अपनी पंचवर्षीय योजनाओं को पूरा करके दिखाया।

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में लेनिन की देन अत्यंत महत्वपूर्ण है। संस्कृति का स्वाभाविक और स्वच्छन्द विकास शोषणहीन समाज में ही संभव है। पूँजीवादी समाज में लेखक

के ऐसे विचार प्रकट करने में, जिनसे पूँजीवाद को धक्का लगता हो, बराबर बाधा पड़ती है। इसीलिये साहित्य और संस्कृति के नाम पर व्यभिचार और नग्न श्रृंगार के चित्र देने में कला की हत्या नहीं समझी जाती। साहित्य का उद्देश्य थोड़े से गिने-चुने सम्पत्तिशाली लोगों का मनोरंजन करना न होना चाहिये बल्कि उस जनता के आर्थिक और राजनीतिक संघर्ष से उसे नाता जोड़ना चाहिये जो नये समाज का निर्माण करने की क्षमता रखती है और पुरानी व्यवस्था के उत्पीड़न को खत्म करने को लड़ रही है। पूँजीवादी युग की असंगतियाँ और सीमाएँ महान् कलाकारों की रचनाओं में कैसे दिखाई देती हैं, यह तोल्स्तोय को रूसी क्रान्ति का दर्पण कहते हुए लेनिन ने बताया। (रूसी क्रान्ति से तात्पर्य १९०५ की असफल क्रान्ति से था।)

"और इसमें सन्देह नहीं कि तोल्स्तोय के ग्रंथों, विचारधारा और उनके उपदेश में बहुत ही स्पष्ट असंगतियाँ मौजूद हैं। एक तरफ़ तो वह एक अद्भुत कलाकार के रूप में हमारे सामने आते हैं जिन्होंने रूसी जीवन की बेजोड़ तस्वीरें ही हमें नहीं दी हैं बल्कि विश्वसाहित्य को प्रथम श्रेणी की कृतियाँ भी दी हैं। दूसरी तरफ़ हम उन्हें देहाती जमींदार के रूप में भी पाते हैं जो ईसामसीह के पीछे पागल बना घूमता है।"

लेनिन ने यह भी बताया कि इन असंगतियों की वास्तविक भूमि क्या है।

"१९वीं सदी के उत्तरकाल में जो असंगतियां रूस के सामाजिक जीवन में रही हैं, उन्हीं की झलक तोल्स्तोय में मिलती है। इस उत्तरकाल में बाबा आदम के जमाने की ग्रामीण व्यवस्था ने दासप्रथा से छुटकारा पाया ही था कि छुटकारे के

बाद ही उसे धनी और महाजन लोगों के चरणों में अर्पित कर दिया गया। किसान की आर्थिक व्यवस्था और उसके जीवन के वे स्तंभ जो सदियों तक जमे खड़े रहे थे, बड़ी ही तेजी से गिरा कर ज़मीन के बराबर कर दिये गये।...ज़मीन छिनते हुए और ग़रीबी बढ़ते हुए देखकर आम जनता में यह विरोध-भावना पैदा हुई थी।...तोल्स्तोय महान् हैं क्योंकि उन्होंने पूँजीवादी क्रान्ति आरंभ होने पर करोड़ों रूसी किसानों में पैदा होने वाले भावों और विचारों को प्रकट किया है। तोल्स्तोय की विचारधारा हानिकर है लेकिन वे एक मौलिक कलाकार हैं क्योंकि उनकी विचारधारा में वही विशेषताएँ हैं जो कि एक कृषक पूँजीवादी क्रान्ति के लक्षणों के रूप में हमारी क्रान्ति में प्रकट हुई थीं।"

ज़ारशाही रूस में संस्कृति और साहित्य के विकास पर ज़बर्दस्त नियंत्रण लगा हुआ था। रूसी साहित्य से कहीं ज्यादा गिरी हुई हालत अन्य जातियों के भाषा और साहित्य की थी। लेनिन और स्तालिन ने आत्मनिर्णय के सिद्धान्त को समाजवादी क्रान्ति का अभिन्न अंग बना दिया। इसलिये सोवियत क्रान्ति में इन पिछड़ी हुई जातियों को अपने भविष्य के निर्माण का अवसर दिखाई दिया।

लेनिन के साथ-साथ गोर्की ने अपने कथासाहित्य और निबन्धों से क्रान्तिकारी भावनाओं का प्रचार किया। उसके उपन्यास "माँ" [रूसी भाषा में हिन्दी से ही मिलता हुआ नाम है "मात्"] ने मजदूरों के संगठन में बड़ी भारी सहायता दी। १९०५ की असफल क्रान्ति के बाद अनेक बुद्धिजीवी लोग जनता के स्वाधीनता-संग्राम से विमुख हो रहे थे। गोर्की ने उनकी अच्छी तरह ख़बर ली। उसने दिखाया कि जिस संकट में

साहित्य पड़ा हुआ है, उससे वह बिना जन-क्रान्ति के नहीं उबर सकता।

"इस ज़माने के साहित्यकार किन विषयों पर लिखते हैं ?

"वे कहते हैं—'ज़िन्दगी क्या है ? मौत। हर चीज़ तो मर रही है। बुराई करो तो और भलाई करो तो, दोनों में से एक भी चीज़ दुनिया में नहीं रह जाती। मरने के साथ दोनों का सफ़ाया हो जाता है। सब बेकार है। मौत के आगे सब बराबर हैं।"

"ये सुन्दर वाक्य सुनकर पूँजीवादी सिर हिलाता है।

कहता है—'ठीक तो है। एक नयी ज़िन्दगी बनाने से फ़ायदा ? जैसे बुराई, वैसे भलाई; दुनिया को बदलने में क्यों सरमग़ज़ी की जाय ? ज़िन्दगी का मतलब जानने की परेशानी क्यों ? जो मिले सो ले लो, मौज से दिन बिताओ। दुनिया जैसी है, उसे वैसी ही रहने दो।"

एक नयी ज़िन्दगी की चाह के बारे में गोर्की ने लिखा था—"हम लोगों को स्वस्थ, खुशहाल और सुन्दर देखना चाहते हैं। सभी स्वस्थ आदमियों की यह स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिये। हम समझते हैं कि हमारी जनता की मानसिक शक्ति विकसित और संगठित की जाय तो वह सारी दुनिया की ज़िन्दगी में एक नयी रवानी ला सकती है और सत्य और सौंदर्य की आने वाली विजय को और भी निकट ला सकती है।"

गोर्की ने ये शब्द १९०८ में लिखे थे। क्रान्ति के बाद वह बराबर नये लेखकों को प्रोत्साहित करते रहे कि वे अपनी जनता के योग्य साहित्य रचें। साहित्य की नयी धारा को समाजवादी यथार्थवाद का नाम दिया गया। मार्क्स ने एक जगह लिखा था कि कम्युनिज़्म वह ह्यूमैनिज़्म (मानववाद) है जिसमें पूँजीवादी

सम्पत्ति का अभाव है। सामाजिक यथार्थवाद का आधार भी यह मानववाद है जो शोषण के साम्पत्तिक अधिकार को मिटा कर नये समाज का निर्माण करना चाहता है।

सोवियत साहित्य की दो-तीन विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। यह साहित्य एक ऐसे समाज का साहित्य है जिसमें से पूँजीवादी शोषण मिट गया है। सोवियत साहित्यकारों ने बराबर कोशिश की है कि वे इस निर्माण कार्य के साथ-साथ चलें। राज्य की ओर से इसके लिये उन्हें सुविधाएँ दी गई हैं कि वे जहाँ जाना चाहें और जो देखना चाहें, उसे जाकर देखभाल सकें और फिर उस पर लिखें। उनका साहित्य केवल यथार्थवादी साहित्य नहीं है जो यांत्रिक ढंग से यथार्थ के चित्र खींचता चला जाता है। उसका ध्येय समाज के सांस्कृतिक धरातल को ऊँचा करना और अच्छे नागरिक उत्पन्न करना है। इसलिये उसमें व्यभिचार और कुरुचिपूर्ण शृंगार के लिये स्थान नहीं है। वह समता और विश्व-बन्धुत्व का प्रतिपादक है। डीन ऑफ कैंटरबरी ने अपनी पुस्तक "सोशलिस्ट सिक्स्थ ऑफ दि वर्ल्ड" में एक नाटक का जिक्र किया है जिसमें रूसी बच्चों को नीग्रो बालक से भाईचारा पैदा करना सिखाया गया है। अमरीका और ब्रिटेन के पूँजीवादी ऊपर से तो ईसामसीह और जनतंत्र का नाम लेते हैं परन्तु व्यवहार में स्मट्स की दक्षिण अफ्रीका वाली जातीय भेदभाव की नीति का समर्थन करते हैं। सोवियत साहित्यकारों ने अपने ही देश के लिये नहीं, तमाम संसार के लिये समता और जनतंत्र के आधार पर रचे हुए साहित्य का आदर्श रखा है।

यथार्थ जीवन—समसामयिक जीवन—के साथ-साथ अपने इतिहास की ओर भी उन्होंने ध्यान दिया है। इस इतिहास को

राजारानियों की गाथा न मान कर जनता के इतिहास के रूप में उन्होंने चित्रित किया है। चापायेव, यान और अलेक्सी तोल्स्तोय ने उपन्यास के विशद चित्रपटों पर पुरातन इतिहास के सजीव दृश्य अंकित किये हैं। सोवियत लेखकों का ध्यान अपनी सांस्कृतिक निधि की ही ओर नहीं है, वे समूचे संसार की सांस्कृतिक निधि से अपना सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। संसार के बड़े-बड़े कलाकारों की रचनाओं का अनुवाद सोवियत संघ की भाषाओं में हो चुका है और कुछ पुस्तकों के लिये तो कहा जाता है कि जितनी वे बीस साल में यहाँ बिकी हैं, उतनी अपने देश में जन्मकाल से लेकर अब तक न बिकी होंगी। इसी उद्देश्य को लेकर महाभारत और रामायण के अनुवाद रूसी भाषा में किये गये हैं। अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी आदि भाषाओं के साहित्य पर बड़े-बड़े आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित किये गये हैं। डिकेंस जैसे साहित्यकारों पर यदि इंगलैंड में कोई आक्षेप करता है तो सोवियत आलोचक उन्हें अपना समझ कर उनका समर्थन करते हैं। कुछ दिन पहले सोवियत विज्ञान-सभा ने हिन्दुस्तान पर एक लंबा अधिवेशन किया था जिसमें प्राचीन संस्कृति और साहित्य से लेकर प्रेमचन्द तक पर विचार-विनिमय किया गया था। यह इस बात को सूचित करता है कि बिना देश-जाति का विचार किये वहाँ के लोग सभी जगह से अपना सांस्कृतिक भंडार भरना चाहते हैं।

सोवियत समाज में लेखक को अत्यन्त सम्मान-पूर्ण स्थान दिया जाता है। राज्य की सबसे बड़ी प्रतिनिधि-सभाओं में उन्हें चुन कर भेजा जाता है। बड़े-बड़े लेखकों के नाम से शहरों का नामकरण तक किया जाता है। प्रसिद्ध कृतियों के लिये उन्हें राज्य की ओर से बड़ा पुरस्कार दिया जाता है।

परन्तु उनका सबसे बड़ा पुरस्कार तो यह है कि बहुसंख्यक जनता उनकी कृतियों को पढ़ती है। किसी भी देश में लाखों की तादाद में यों पुस्तकें प्रकाशित होकर नहीं बिकतीं जैसे सोवियत संघ में।

सम्मान के साथ सोवियत लेखक का उत्तर-दायित्व भी बहुत बड़ा है। वह जिस संस्कृति को प्यार करता है, उसके लिये प्राण देने को तत्पर रहता है। सोवियत लेखक-संघ के ३००० सदस्यों में से १००० युद्ध के मोर्चे पर काम करते थे और इनमें लगभग ढाई सौ ने अपने बलिदान से ही अपने उत्तरदायित्व को निबाहा। डायरी, लेख, कहानी, कविता, उपन्यास, रिपोर्ताज़ लिखकर उन्होंने जनता के मनोबल को ऊँचा रक्खा। यदि संसार फ़ासिज़्म की दासता से बचा है और उसे सच्चा जनतंत्र क़ायम करने का मौका मिला है तो इसका बहुत बड़ा श्रेय सोवियत लेखकों को है।

सोवियत क्रान्ति ने दुनिया के एक छठे भाग को पूँजीवादी दासता से मुक्त कर दिया। एशिया और यूरोप में पूँजीवाद की जड़ें हिल गईं। पूँजीवाद आज भी लड़ रहा है लेकिन वह हारी हुई लड़ाई लड़ रहा है। उसके पैर बराबर पीछे पड़ते जा रहे हैं और वह अपने ध्वंस की घड़ी को दूर रखने की दमतोड़ कोशिश कर रहा है। पूँजीवाद की जगह लेने की ऐतिहासिक क्षमता समाजवाद में है और आज समाजवाद की ओर जैसे जनता की तमाम शक्तियों का बटोर हो रहा है, वैसे ही साहित्य, कला और विज्ञान के क्षेत्र में द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के आगे कोई भी काल्पनिक विचारधारा नहीं टिक पाती। शोलोखोव जैसे महान् उपन्यासकार, अरागों जैसे कवि, पिकासो जैसे चित्रकार, ज़ोलियो क्यूरी और हाल्डेन जैसे वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन

के आधार पर मानवचेतना को विकसित कर रहे हैं। संसार के भिन्न-भिन्न देशों में जितनी ही शीघ्रता से पूँजीवादी शोषण का अन्त होगा, उतनी ही शीघ्रता से यह विकास भी हो सकेगा।

प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न

सितम्बर १९४७ के 'हंस' में श्री अमृतराय ने प्रगतिशील साहित्य पर कुछ प्रश्न उठाये हैं और लिखा है कि प्रगतिशील संघ "अपनी कोई सुनिश्चित मान्यता स्थिर कर सके, इसके लिये आवश्यक है कि इन प्रश्नों पर सङ्घ की शाखाओं में, पत्रों-पत्रिकाओं में, पुस्तकों-पुस्तिकाओं में खुलकर बहस हो और फिर उस सबके आधार पर संघ सामूहिक विचार-विनिमय द्वारा किसी एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचे।" इस सुझाव का स्वागत करते हुए यहाँ पर संक्षेप में उन समस्याओं की विवेचना की गई है।

मोटे तौर से प्रश्न ये हैं :—

१. प्रगतिशील साहित्य से क्या मतलब है ? क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है या श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है ?

२. साहित्य और समाज में क्या सम्बन्ध है ? क्या समाज का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ता है या पड़ना चाहिये ? क्या साहित्य को प्रचारात्मक होना चाहिये ?

३. किसी कलाकृति में उसके रूप और विषयवस्तु का क्या सम्बन्ध होता है ? प्रगतिशील आलोचना में कला के रूप पक्ष को कितना महत्त्व दिया जाता है ?

४. वर्त्तमान काल में साहित्य पर फ्रॉयड का भी प्रभाव पड़ा है, उसके बारे में प्रगतिशील मान्यता क्या है ? इस प्रकार

अपने अंतर्द्वन्दों का चित्रण करने वाला प्रयोगमूलक कवि कहाँ तक प्रगतिशील है ?

५. संस्कृति और परम्परा का क्या सम्बन्ध है ? संतकाल और छायावाद के बारे में प्रगतिशील मान्यता क्या है ?

६. संस्कृति और जातीयता का क्या सम्बन्ध है ? भारत की एक अखण्ड संस्कृति है या बङ्गाली, मराठी, गुजराती आदि अलग-अलग संस्कृतियाँ हैं ?

७. हिन्दुस्तान के बँटवारे का संस्कृति पर क्या असर पड़ा है ? राष्ट्रभाषा और जनपदीय बोलियों के प्रश्न का निर्णय क्या है ?

मोटे तौर से इन सात गुटों में श्री अमृतराय के उठाये हुए प्रश्नों को बाँटा जा सकता है। ये प्रश्न काफ़ी पुराने हैं और अन्य देशों में भी उठाये गये हैं। यदि वहाँ की विवेचना से भी लाभ उठाया जाये तो इनका उत्तर देने में आसानी होगी। उस कार्य को दूसरे अवसर के लिये छोड़ कर इस बहस को शुरू करने के लिये यहाँ पर कुछ मोटी बातें कही जाती हैं।

१. श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है—इस धारणा का समर्थन करने वाले अनेक साहित्यकार हो चुके हैं। अभी पिछले इलाहाबाद के सम्मेलन में ही पं० अमरनाथ झा ने यह दावा किया था कि श्रेष्ठ साहित्य तो प्रगतिशील होता ही है, उसके लिये सङ्घ रूप में प्रयास करने की क्या ज़रूरत है ? इसका मतलब यह है कि बिहारी, मतिराम से लेकर तुलसी, सूर और प्रेमचन्द तक सभी बड़े-बड़े साहित्यकार प्रगतिशील थे। इसलिये वास्तव में प्रगतिशीलता की तो चर्चा ही निरर्थक हो जाती है, देखना तो यह चाहिये कि शुद्ध साहित्य यानी रस और अलङ्कार की दृष्टि से इनका साहित्यिक महत्त्व क्या है।

प्रगतिशीलता की चर्चा इसलिये चलती है कि हम समाज पर भी साहित्य के प्रभाव को आँकें और उस प्रभाव के अनुसार नये और पुराने साहित्य का मूल्याङ्कन करें। रस और अलंकार की दृष्टि से जिस साहित्य को श्रेष्ठ माना गया है, वह सदा ही समाज के लिये हितकर नहीं रहा। उदाहरण के लिये हिन्दी कविता में रीतिकालीन परिपाटी का विरोध भारतेन्दु काल से आरम्भ होकर श्री सुमित्रानन्दन पंत तक होता चला आया है। यह परिपाटी रस और अलंकारों के सहारे चलते हुए भी समाज-हितैषी साहित्य को जन्म नहीं दे पायी। इसलिये साहित्य की प्रगतिशीलता का प्रश्न वास्तव में समाज पर साहित्य के शुभ और अशुभ प्रभाव का प्रश्न है। प्रगतिशील लेखक यह तो स्वीकार करते ही हैं कि समाज पर साहित्य का असर पड़ता है; इसके अलावा इस असर के महत्त्व को समझ कर सचेत रूप से सामाजिक विकास के लिये वे उसका उपयोग भी करना चाहते हैं। इसीलिये उनके संघबद्ध प्रयास की जरूरत होती है।

प्रगतिशील साहित्य से मतलब उस साहित्य से है जो समाज को आगे बढ़ाता है, मनुष्य के विकास में सहायक होता है। जब यह प्रश्न किया जाता है—"क्या प्रगतिशील होने से ही साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है," तो इसका मतलब शायद यह होता है कि साहित्यिक न होने पर भी कभी-कभी कोई कृति विषय-वस्तु के कारण ही प्रगतिशील और इसलिये श्रेष्ठ मान ली जाती है। उदाहरण के लिये बङ्गाल में अकाल पड़ा। बहुत से लोगों ने उस पर कवितायें लिखीं। किसी विशेष कविता में मार्मिकता नहीं है, फिर भी वह तर्कसङ्गत समाज-हितैषी बात कहती है, तो क्या उसे श्रेष्ठ कविता मान लिया जाय? इस

प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि प्रगतिशील साहित्य तभी प्रगतिशील है जब वह साहित्य भी है। यदि वह मर्मस्पर्शी नहीं है, पढ़ने वाले पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता, तो सिर्फ नारा लगाने से या प्रचार की बात कहने से वह श्रेष्ठ साहित्य क्या, साधारण साहित्य भी नहीं हो सकता।

प्रगतिशील होने से ही क्या साहित्य श्रेष्ठ हो जाता है—यह प्रश्न भ्रामक है। इसी तरह श्रेष्ठ साहित्य सदा प्रगतिशील होता है—इस धारणा का शुद्ध कला वाला आधार भी भ्रामक है। हमें ऐसा साहित्य चाहिये जो एक तरफ़ तो कला की उपेक्षा न करे; रस-सिद्धान्त के नियामक जिस आनन्द की माँग करते हैं, वह साहित्य से मिलना चाहिये, भले ही उसका एक मात्र उद्गम रसराज न हो, भले ही उसकी परिणति आत्मा की चिन्मयता और अखण्डता में न हो। कलात्मक सौष्ठव के साथ-साथ उस साहित्य में व्यक्ति और समाज के विकास और प्रगति में सहायक होने की क्षमता भी होनी चाहिये। तभी वह अभिनन्दनीय हो सकता है, हम चाहे जिस नाम से उसे पुकारें।

२. साहित्य और समाज के परस्पर सम्बन्ध को विभिन्न-रूपों में पूर्व और पश्चिम के विद्वान् आज से नहीं सैकड़ों वर्षों से मानते आये हैं। यह सम्बन्ध किस प्रकार का है, इसकी वैज्ञानिक व्याख्या मार्क्स ने की थी। यह व्याख्या मार्क्स की पुस्तक 'क्रिटीक ऑफ़ पोलीटिकल इकानॉमी' की भूमिका में स्पष्ट रूप से दी हुई है। सामाजिक उत्पादन के सिलसिले में मनुष्य ऐसे सम्बन्ध स्थापित करते हैं जो उनकी इच्छा और अनिच्छा पर निर्भर नहीं होते। ये उत्पादन सम्बन्ध किस तरह के हैं, यह इस बात पर निर्भर है कि उत्पादन की भौतिक शक्तियाँ किस

हद तक विकसित हुई हैं। इन उत्पादन सम्बन्धों का जमाव समाज का आर्थिक ढाँचा कहलाता है। यही वह वास्तविक आधार है जिसके ऊपर क़ानून और राजनीति का महल खड़ा किया जाता है। इसी आधार के अनुकूल सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप होते हैं। समाज के भौतिक जीवन में उत्पादन की पद्धति क्या है, इसी से सामाजिक, राजनीतिक और मानसिक जीवन के क्रम निश्चित होते हैं। मनुष्य की चेतना उनके अस्तित्व का निर्माण नहीं करती; इसके विपरीत उसका सामाजिक अस्तित्व ही उसकी चेतना को निश्चित करता है। विकास की एक मंज़िल तक पहुँच कर उत्पादन के मौजूदा सम्बन्धों में और उत्पादन की भौतिक शक्तियों में टक्कर पैदा होती है। दूसरे शब्दों में सम्पत्ति के जिन सम्बन्धों में बँधी रह कर ये शक्तियाँ काम करती हैं, उनसे उनकी टक्कर होती है। ऐसी दशा में सामाजिक क्रांति का युग आरम्भ होता है। आर्थिक आधार के बदलने पर ऊपर का विशाल प्रासाद भी बहुत कुछ जल्दी ही बदलता है। इस परिवर्त्तन पर विचार करते हुए एक भेद हमेशा याद रखना चाहिये। एक तरफ़ तो उत्पादन की आर्थिक परिस्थितियाँ बदलती हैं जिनके बदलने को भौतिक विज्ञान के नपे तुले ढङ्ग से आँका जा सकता है। इसके साथ ही क़ानूनी, राजनीतिक, धार्मिक, कलात्मक या दार्शनिक—संक्षेप में सैद्धान्तिक—रूप भी बदलते हैं जिनके द्वारा मनुष्य उस टक्कर का सामना करते हैं। किसी भी आदमी के बारे में हम अपनी राय इस बात से क़ायम नहीं करते कि वह खुद अपने बारे में क्या सोचता है। इसी प्रकार इस परिवर्त्तन के युग की चेतना क्या है, उसी से हम उस युग के बारे में अपनी राय क़ायम नहीं करेंगे। होना यह चाहिये कि भौतिक जीवन में जो असङ्गतियाँ

हैं, उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों में जो सङ्घर्ष है, उसके सहारे उस युग की चेतना को समझें।

साहित्य और समाज का परस्पर सम्बन्ध क्या है, यह ऊपर की बात से स्पष्ट हो जाना चाहिये। समाज की आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का प्रासाद बनाया जाता है और इस आर्थिक व्यवस्था में देखना यह चाहिये कि उत्पादन सम्बन्धों से उत्पादक शक्तियों का विकास होता है या वे उसके विकास में बाधक हैं। सामंती-व्यवस्था में उत्पादक शक्तियाँ किसान हैं। भूमि-व्यवस्था का आधार जागीरदारी या ज़मींदारी प्रथा है। ज़मींदार और किसान का उत्पादन सम्बन्ध उत्पादक शक्ति यानी किसान के विकास में बाधक होता है। दोनों की टक्कर होती है और यह टक्कर संस्कृति में भी झलकती है। पूँजीवादी समाज में उत्पादन सम्बन्ध यानी पूँजीपति और मज़दूर का सम्बन्ध पूरे समाज के विकास में घातक हो जाता है। दोनों में संघर्ष होता है और यह संघष विभिन्न रूपों में संस्कृति में भी झलकता है। संघर्ष को संघर्ष के लिये बढ़ाना—'कला कला के लिये' वाले सिद्धान्त की तरह—किसी का उद्देश्य नहीं हो सकता। उद्देश्य होता है उस संघर्ष का अंत करना। परंतु उसका अंत संघर्ष की तरफ़ से आँख मूँदने से नहीं होता। इसीलिये लेखक और कलाकार का कर्त्तव्य होता है कि वह उत्पादन-सम्बन्धों और उत्पादक शक्तियों की टक्कर को समझे और अपनी कला द्वारा विकासमान शक्तियों को सहारा देकर और उनसे स्वयं जीवन प्राप्त करके मनुष्य और समाज की मुक्ति की ओर अग्रसर हो।

इस आर्थिक आधार का बिल्कुल सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य या कला पर नहीं पड़ता, यह तो मार्क्स के कथन में ही निहित है। एंगेल्स ने इस बात को अपने एक पत्र में और भी

खुलासा कर दिया था। उन्होंने स्टारकेनबुर्ग को लिखते हुए बताया था—"राजनीतिक, क़ानूनी, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक आदि विकास का आधार आर्थिक विकास है। लेकिन इन सबका एक दूसरे पर असर पड़ता है और आर्थिक आधार पर भी उनका असर पड़ता है। ऐसी बात नहीं है कि आर्थिक आधार ही एकमात्र और सक्रिय कारण हो, और बाक़ी सब चीज़ों का असर निष्क्रिय होता हो। आर्थिक आवश्यकता के आधार पर इन सबका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है और अंततोगत्वा यह आर्थिक आवश्यकता अपने को मनवा लेती है। ....इसलिये जैसा कि कुछ लोग बड़ी सरलता से कल्पना कर लेते हैं, आर्थिक आधार का प्रभाव यांत्रिक रूप से नहीं पड़ता। मनुष्य स्वयं अपने इतिहास का निर्माण करते हैं। इस निर्माण के लिये कुछ परिस्थितियाँ होती हैं जो उस विकास को निश्चित करती हैं। पहले से ही कुछ सम्बन्ध स्थापित होते हैं जो इस निर्माण का आधार होते हैं। इनमें आर्थिक सम्बन्ध सबसे अधिक निर्णायक होते हैं और इन पर राजनीतिक और सैद्धान्तिक चाहे जैसा प्रभाव पड़े उन्हीं के सहारे हम युग की चेतना को समझ सकते हैं।"

इससे ज़ाहिर है कि किसी भी युग को समझने के लिये आर्थिक सम्बन्धों को जानना ज़रूरी है; लेकिन साहित्य या कला इन सम्बन्धों की छायामात्र नहीं है। वह स्वयं आर्थिक सम्बन्धों को भी प्रभावित करती है और सामाजिक जीवन का यथार्थ अपने संश्लिष्ट रूप में ही साहित्य और कला में प्रतिबिम्बित होता है।

जब हम पूछते हैं कि क्या समाज का सीधा प्रतिबिम्ब साहित्य में पड़ता है या पड़ना चाहिये तो इसके पीछे एक कल्पना

तो यह होती है कि समाज स्वयं एक सीधी वस्तु है, उसमें असङ्गतियाँ नहीं हैं जिनका साहित्यकार पर प्रभाव पड़ सकता है। साहित्य में समाज के अंतर्विरोध भी आते हैं, उसकी असङ्गतियाँ भी प्रकट होती हैं, तोल्स्तोय जैसे कलाकार में रूसी किसान का असंतोष और उसके धार्मिक अंधविश्वास दोनों प्रकट होते हैं। समाजवादी व्यवस्था में ये असंगतियाँ मिटती हैं लेकिन इसका यह मतलब नहीं होता कि समाज अपने संश्लिष्ट रूप को छोड़ कर एक सरल इकाई बन जाता है। इसलिये साहित्यकार को पहले तो समाज के सीधे होने का विचार छोड़ देना होगा। दूसरी कल्पना इस प्रश्न के पीछे यह है कि साहित्य में सीधा-सीधा प्रचार किया जाय या नहीं। यदि हम सीधा-सीधा प्रचार करते हैं, तो क्या साहित्य के उथला होने का भय नहीं है? असल में साहित्य का उथला या गहरा होना प्रचार या न प्रचार करने पर निर्भर नहीं है। उसकी कसौटी यह है कि हमने यथार्थ को उसके संश्लिष्ट रूप में कहाँ तक पहचाना है। प्रत्येक घटना अन्य घटनाओं से भी सम्बद्ध होती है। इस सामाजिक ऊहापोह को, घटनाओं की सम्बद्धता को समझे बिना यथार्थ का चित्रण कैसे किया जा सकता है? इस ऊहापोह को परखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि समाज की पतनोन्मुख और विकासमान शक्तियों के परस्पर सम्बन्ध को भी हम देखें। इस सम्बन्ध को न देख सकने से अनेक तरह की प्रवञ्चना का जन्म होता है। उदाहरण के लिये किसी राज्य विशेष में पूँजीपतियों का आधिपत्य है। उनके हितों के अनुकूल सांस्कृतिक चेतना के विभिन्न रूपों का निर्माण हो रहा है। उन्हें शाश्वत, अमर रस का एक मात्र परिपाक करने वाला बताया जाता है। तब देखना यह चाहिये कि यह आधिपत्य पतनोन्मुख है

या उत्पादक शक्तियों के विकास में सहायक है। यदि इस यथार्थ को कोई सही-सही अङ्कित करेगा तो पाठक में अनिवार्य रूप से उस आधिपत्य के लिये श्रद्धा या घृणा अवश्य उत्पन्न होगी। ऐसा नहीं हो सकता कि हम उत्पादक शक्तियों पर पूँजीवादी आधिपत्य का चित्रण करें और उसका असर ब्रह्मानन्द सहोदर में लीन हो जाय। इस प्रकार साहित्य की प्रचारात्मकता का प्रश्न सामाजिक जीवन की यथार्थता की कसौटी पर हल किया जा सकता है। जो साहित्य मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न को छिपाता है, संस्कृति की झीनी-बीनी चादर बुनकर उसे ढाँकना चाहता है, वह प्रचारक न दिखते हुए भी वास्तव में प्रतिक्रियावाद का प्रचारक होता है। जो साहित्य यथार्थ जीवन के इस सत्य को प्रकट करता है, वह वास्तव में गंभीर साहित्य होता है और मनुष्य के हृदय में रस-सृष्टि करने के साथ-साथ उसे विकास की प्रेरणा भी देता है।

एक सच्चा कलाकार यथार्थ के बारे में किस तरह सोचता है, इसकी एक मिसाल सोवियत् लेखक-संघ के भूतपूर्व मंत्री तिखोनोव के एक लेख में मिलती है। क्रान्ति के बाद की घटनाओं को चित्रित करने में कितनी कठिनाई होती थी, इसका ज़िक्र करते हुए उन्होंने लिखा है—"वर्त्तमान जीवन में जितना ही गहरा मैं पैठता हूँ उतना ही लिखने का काम उलझा हुआ और मुश्किल मालूम होता है। हर कविता और कहानी में मैं चाहता हूँ कि युगकी चेतना बोले और हर बार हाथ बेक़ाबू होकर रह जाता है। मैं चाहता हूँ कि इस तरह लिखूँ कि न सुख छूटे न दुख छूटे; मैं बिल्कुल दूर न चला जाऊँ और साथ ही एक बने हुए ढाँचे के मुताबिक़ कहानी कहता हुआ सस्ती ख्याति के पीछे भी न दौड़ूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरे लिखने में सादगी हो, साथ ही

सधी हुई व्यञ्जना भी हो। मेरी लिखी हुई चीज़ मौलिक और प्रभावशाली हो।"

३. रूप और विषय-वस्तु का सम्बन्ध अभिन्न और अन्योन्याश्रित है। प्रगतिशील साहित्य रूप-सौष्ठव का तिरस्कार करके दो क़दम आगे नहीं चल सकता। यह सौष्ठव कला को प्रभावशाली बनाने में बहुत बड़ा कारण है। काव्य कौशल की ओर ध्यान न देकर रचनाकार अपनी कृति को असमर्थ ही बनायेगा। परन्तु कला का यह रूप हवा में नहीं निखरता। फूल के रूपरङ्ग के लिये जिस तरह धरती की आवश्यकता होती है, उसी तरह किसी भी कृति के कलात्मक सौंदर्य का निखार उसकी विषय-वस्तु की सामाजिकता से जुड़ा हुआ है। जब कोई रचनाकार इस विषय-वस्तु के सामाजिक महत्त्व के प्रति उदासीन होकर कला के सौंदर्य की ओर ही दौड़ता है, तो बहुधा उसे निराश होना पड़ता है। उदाहरण के लिये रीतिकालीन कवि बिहारी और कृष्ण की भक्त मीरा के छन्दों को ले लीजिये। बिहारी रस और अलङ्कारों के महान् ज्ञाता थे परन्तु उनकी विषय-वस्तु का सामाजिक आधार कमज़ोर था। 'हुकुम पाय जैसाह को' उन्होंने बड़े कलात्मक दोहे लिखे परंतु उस कलात्मकता में मध्यकालीन समाज का मनुष्य पराधीनता के बन्धनों में बँधकर रह गया है। उसके नैसर्गिक विकास या मुक्तिकामना की झलक उन दोहों में नहीं दिखाई पड़ती। इसके विपरीत मीरा ने विभिन्न रूपों में इसी मुक्तिकामना की चेष्टा को व्यक्त किया है। इसीसे उनमें वह आवेश उत्पन्न हुआ है जो उनके गीतों की श्रेष्ठ कला में प्रकट हुआ है।

क्या बिना आवेश और उत्साह के कलात्मक वैदग्ध्य उत्पन्न हो सकता है? क्या सामाजिक यथार्थ से आन्दोलित हुए बिना

किसी भी कलाकार के लिये यह सम्भव है कि वह मार्मिक सौंदर्य की सृष्टि कर सके ? साहित्य का इतिहास बताता है कि आजतक ऐसा नहीं हुआ। जो इस शुद्ध सौंदर्य के पीछे दौड़े और मनुष्यता के तक़ाज़े को भूल गये—वे काग़ज़ का रंगीन फूल बनाने में तो ज़रूर समर्थ हुए परंतु उनकी कला में गम्भीरता और व्यापकता न आ पाई, पानी में खिले हुए कमल की ख़ुशबू वे न पैदा कर सके।

साहित्य को धार्मिक या नैतिक उपदेश का पर्यायवाची समझ बैठना प्यूरिटन मनोवृत्ति का परिचायक है। ऐसी मनोवृत्ति महारानी विक्टोरिया के समय के लोगों में पाई जाती थी जो मीठे-मीठे उपदेशों से अपने नैतिक पतन को छिपाते थे। उसी १६वीं सदी के उत्तरार्द्ध में 'कला-कला के लिये' की गुहार भी मची जो सामाजिक उत्तरदायित्व से बचने का प्रयास था। 'केवल रूप, केवल रूप' कहते हुए वे रूप के उपासक वास्तव में सामाजिक प्रतिक्रियावाद के पोषक बन गये। कलाकृति की विषय-वस्तु और उसके रूप का सामञ्जस्य इस प्रकार नहीं होता। यह सामञ्जस्य तभी हो सकता है जब हम गम्भीर सामाजिक प्रेरणा से सौंदर्य की उत्कृष्टता का सम्बन्ध मानें। वाल्मीकि ने क्रौंच पक्षी के वध से क्षुब्ध होकर जिस श्लोक की सृष्टि की थी, क्या उस क्षोभ के बिना उस श्लोक के सौंदर्य की कल्पना की जा सकती है? कवि ने बड़े सुन्दर ढङ्ग से लिख दिया था—शोकः श्लोकत्वमागतः। जैसे वाल्मीकि का शोक श्लोक बन गया था, उसी तरह अपने चारों तरफ़ के वातावरण से, जिसमें उसका मानस भी शामिल है, प्रेरणा लेकर ही कलाकार रूप सौष्ठव को जन्म दे सकता है। इस प्रकार हम दोनों का अभिन्न और अन्योन्याश्रित सम्बन्ध देखते हैं।

४. अब हम प्रयोगमूलक साहित्यकारों की बात लेते हैं। यह इतिहास की मानी हुई बात है कि पूँजीवाद के पतनकाल में नयी सामाजिक प्रेरणा न पाकर अमरीका और यूरोप के अनेक कलाकारों ने केवल रूप और कौशल के प्रयोगों से इस अभाव की पूर्त्ति करने की चेष्टा की है। उदाहरण के लिये जेम्स जॉयस नाम के उपन्यासकार ने अपनी कृति 'यूलिसिस' में अवचेतन मन का चित्रण करने के लिये एक नया कौशल और एक नयी भाषा ही गढ़ डाली है। वास्तव में जिस समाज और जिस मनोवृत्ति का वह चित्रण करना चाहता है, वह सब भीतर से खोखली हो गई है। समाज की प्रगतिशील शक्तियों से उसे कोई सहानुभूति नहीं है, बल्कि अपनी संस्कृति के ताने-बाने के लिये वे शक्तियाँ उसको भयावह मालूम देती हैं। टी० एस० इलियट ने फ्रांस की प्रतीकवादी शैली और १७वीं सदी के धार्मिक कवियों की परम्परा जोड़कर एक नयी दुरूह शैली ईजाद की; लेकिन उससे अंग्रेजी कविता में उस नये युग का अभ्युदय नहीं हुआ जिसकी कि कुछ लोग आशा करते थे। निबंधों में तो अपने प्रतिक्रियावाद को उसने और उघार कर रक्खा है। वह पुराने अन्धविश्वासों और निरंकुश राज्यसत्ता का समर्थक है। आई० ए० रिचर्ड्स जैसे प्रोफ़ैसर उसके हिमायती मिल गये हैं जो यह मंत्र देते हैं कि अब कला दिन पर दिन दुरूह होती जायगी और विशेषज्ञों के हाथ में पड़ कर कुछ दिन में थोड़े ही जानकारों के लिये रह जायगी। इलियट ने यूरोप की परम्परा के बड़े गुन गाये हैं लेकिन वास्तव में उसका सम्बन्ध यूरोप के फ़ासिज़्म की नयी परम्परा से अधिक है, यूरोप के महान् कलाकारों दान्ते और विक्टर ह्यूगो की परम्परा से कम।

इस पृष्ठभूमि को याद रखना इसलिये जरूरी है कि भारतीय

और विदेशी पूँजीवाद के गठबन्धन के समय जब सङ्गठित जनता की ताक़त ही राजनीति के ठहराव को ख़त्म करके संस्कृति को नया बल दे सकती है, तब प्रयोग-मूलकता के नाम पर अनेक कलाकार सामाजिक उत्तरदायित्व से बचते हुए संस्कृति की प्रशस्त धारा से अलग हो जाते हैं। उनको अपना एकमात्र आदर्श पश्चिमी पूँजीवाद की उपज वहाँ की पतनोन्मुख साहित्यिक धारायें दिखायी देती हैं। हिन्दी के कई कलाकार भारतीयता के परम पक्षपाती होते हुए अचानक टी० एस० इलियट के भक्त बन गये हैं, यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। कलाकार के लिये प्रयोग करने की तो सदा छूट रहती है। वह नये छन्द, नये रूप, नये भावों और नयी शैली से नये-नये आकर्षण पैदा करता है। परंतु एक प्रयोग ऐसा हो सकता है जो जनसाहित्य की परम्परा के अनुकूल हो और दूसरा प्रयोग ऐसा हो सकता है जो उसके प्रतिकूल हो। प्रयोगमूलक कविता को परखते हुए यह देखना होगा कि साहित्यकार किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये प्रयत्न कर रहा है। इसका जवाब कुछ लोग यह कह कर देते हैं कि जैसे वैज्ञानिकों को अपनी प्रयोगशाला में प्रयोग करने की छूट होती है, वैसे ही कला की प्रयोगशाला में उन्हें भी नये-नये प्रयोग करने की छूट होनी चाहिये। यह बहुत जल्दी ज़ाहिर हो जाता है कि अपनी प्रयोगशाला के दरवाज़े बन्द करके काम करने वाले ये कलाकार अपनी असलियत को छिपाने की कोशिश करते हैं। वास्तव में वे जनतंत्र के विरोधी हैं, जनता से उनका विश्वास उठ गया है, आज के नरसंहार के पीछे उन्हें कहीं भी प्रतिक्रियावादियों का हाथ नहीं दिखाई देता, भारतीय संस्कृति उन्हें गधे जैसी मालूम पड़ती है जिसे हाँकते-हाँकते उनमें स्वयं गधापन आ गया है; संस्कृति के नाम पर शून्य हैं; अपनी हीनता,

मानसिक कुण्ठा और निराशा का चित्रण करने में ही उन्हें साहित्य और समाज का उद्धार दिखायी देता है। इसीलिये इस प्रयोगशाला से एक ऐसा गीत, कहानी का एक ऐसा पात्र नहीं निकलता जिसे साधारण जनता अपना सके। यह कला का दिवालियापन है; उसमें मौलिक प्रयोग नहीं है। जो जनतंत्र-विरोधी भावना इसका आधार है, वह वास्तव में संस्कृति के लिये घातक है।

ऐसे अवसर पर फ्रॉयड का मनोविज्ञान स्वभावतः सहायता के लिये आ जाता है। कुछ फ्रॉयडवादियों का कहना है कि असली प्रगतिशील तो हम हैं जो मन के सात पर्तों में पैठ कर वहाँ से मातृ-रति (इडिपस कम्प्लेक्स) ढूँढ़ निकालते हैं। दमित कामवासनाओं से ही तो साहित्य की सृष्टि होती है। हम उस उद्गम का पता लगाते हैं। अवचेतन मन की इन गुत्थियों तक पहुँचे बिना संस्कृति का उद्धार असम्भव है। पूँजीवाद और साम्राज्यवाद को खतम करने से क्या होगा जब तक अवचेतनमन के काले जल पर मातृ-रति की छाया तैरती रहेगी। इसलिये पूँजीवाद का विरोध निरर्थक है, साम्राज्यवाद का विरोध सिर्फ़ ऊपरी है। मानव-मन की विकृतियों का चित्रण करना अनिवार्य है।

फ्रॉयड का मनोविज्ञान चाहे सही हो चाहे ग़लत, साहित्यकार को उससे पहला फ़ायदा तो यह होता है कि मनोविज्ञान के नाम पर वह उस तमाम गन्दगी का चित्रण कर सकता है जो बिना इस सहारे के अक्षम्य होती। यह मनोविज्ञान अलीबाबा की गुफ़ा का वह दरवाज़ा है जहाँ 'खुल जाओ समसम' कहते ही काम-शास्त्र के अनमोल रत्न-आभूषण आँखों को दिखाई देने लगते हैं। सामाजिक संघर्ष से उदासीन कलाकार अपनी कुण्ठा और

अंतर्द्वन्द को लिये हुए इस गुफा में घुस जाता है और उन आभूषणों से मन-बहलाव करने लगता है। युद्धकाल में जब राजनीतिक गतिरोध के साथ-साथ हमारी संस्कृति में भी एक ठहराव आया, तब इस तरह के साहित्य की काफ़ी पूछ होने लगी। जनतंत्र और स्वाधीनता की चेतना फैलने पर इसका भाव मन्द ज़रूर हो जायगा।

कुछ लोग मार्क्सवाद को अधूरा बता कर उसे फ्रॉयड के मनोविज्ञान से भरापूरा बनाने का शुभ प्रयास करते हैं। उन्हें मार्क्सवाद से यह शिकायत होती है कि उसकी नज़र ऊपरी दुनिया तक सीमित रहती है और मनुष्य के भाव-जगत् तक उसकी पहुँच नहीं होती। इस एकाङ्गीपन को दूर करना हो तो फ्रॉयड के मनोविज्ञान से और अच्छा सहारा क्या मिलेगा जो कि भावजगत ही नहीं, उससे भी गहरे पैठकर अभावजगत् का पता लगा लेता है।

मार्क्सवाद मनोविज्ञान का विरोधी नहीं है परंतु वह फ्रॉयड के मनोविज्ञान को ही एक मात्र मनोविज्ञान नहीं मानता। उसका भावजगत् से कोई विरोध नहीं है और न उसकी नज़र सिर्फ़ ऊपरी हलचल तक सीमित रहती है। यदि ऐसा होता तो दुनिया के बड़े-बड़े मार्क्सवादी लेखक बहुत ही हलकी चीजें दे पाते। प्रसिद्ध वैज्ञानिक हॉल्डेन अपने प्रयोग बन्द करके सिर्फ़ ऊपरी हलचल को बढ़ाने घटाने में अपना समय देने लगते। मार्क्सवाद भावजगत् और बाह्य घटना चक्र के परस्पर सम्बन्ध को देखता है और दोनों में से किसी एक को भी अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता। लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि काम-वासनाओं के चित्रण को यह साहित्य का ध्येय मानता है। मानव-समाज के बारे में

जो वैज्ञानिक शास्त्र रचा जायगा, उसी के आधार पर मनोविज्ञान की सृष्टि भी हो सकती है। जो मनोविज्ञान समाज को छोड़कर व्यक्ति के अंतर्मन का विश्लेषण करने का प्रयत्न करता है, वह अपने विज्ञान को पहले से ही अवैज्ञानिक क़रार दे देता है।

फ्रॉयड के अनुसार मनुष्य के अवचेतन मन में वे सब दमित इच्छायें एकत्र होती रहती हैं जिन्हें उसकी सजग सामाजिक चेतना अस्वीकार कर देती है। ये इच्छायें हार नहीं मानतीं और अनेक रूपों में चेतना पर आक्रमण करती रहती हैं। फलतः मनुष्य के विचारों और उसकी क्रियाओं में जो परिवर्त्तन होता है, उसका श्रेय उसकी सजग चेतना को इतना नहीं है जितना उन दमित इच्छाओं को जो अनजाने ही चेतना की गतिविधि को नियमित किया करती हैं। मार्क्सवादी विद्वान् टी० ए० जैक्सन ने अपनी पुस्तक 'डायलैक्टिक्स' में फ्रॉयड के मनोविज्ञान की दार्शनिक पृष्ठभूमि का उल्लेख करते हुए बताया है कि इसका मूलस्रोत काण्ट के दर्शन में है जहाँ पर एक तरफ़ तो सत्य को जाना नहीं जा सकता और दूसरी तरफ़ उसे मानसिक धरातल पर व्यक्तिगत ढङ्ग से पेश किया जाता है (Unknowable Reality and Subjective Presentation in thought)। हेगल के विपरीत शोपेनहॉवर ने इस धारणा को और विकसित किया और निरंकुश इच्छा-शक्ति तथा व्यक्तिगत संकल्प के द्वन्द्व की सृष्टि की (Absolute Will and Subjective Idea)। फ़ॉन हॉर्टमन ने "अवचेतन मन का दर्शन" नाम की पुस्तक लिखी जिसमें बताया कि बौद्धिक चिंतन एक मायाजाल है जिसमें पड़कर आदमी भटकता हुआ वास्तव में एकच्छत्र सम्राट् अवचेतन मन की ही इच्छाओं की पूर्त्ति करता है। इस सब चिंतन का आधार आदर्शवादी दर्शन

था। फ्रॉयड ने शोपेनहॉवर और हॉर्टमन की इस धारणा को अपना लिया कि इच्छा और बुद्धि में बराबर द्वन्द्व बना रहता है और उस धारणा में उसने लगभग कोई भी उलटफेर नहीं किया।

जैक्सन ने फ्रॉयड के मनोविज्ञान का आधार बताते हुए कहा है कि उसके अनुसार मानवीय अस्तित्व का मौलिक धरातल इच्छा है जो तमाम विचारों और भावों का तत्त्व है। चेतना के विभिन्न रूप इसी अवचेतन मन की इच्छा द्वारा नियमित होते हैं। चेतना के स्तर तक आने में दमित इच्छाओं को रोकने का काम नैतिकता करती है और नैतिकता से मूलतः अनियन्त्रित काम-भावनाओं का विरोध है। इसलिये अवचेतन मन एक ऐसा गोदाम है जहाँ नैतिक मन द्वारा अस्वीकृत तमाम कामवासनायें इकट्ठा कर दी जाती हैं। फ्रॉयड ने मूल इच्छाशक्ति को 'लिबिडो' नाम देकर इस धारणा की पुष्टि की कि मनुष्य की चेतना के भिन्न-भिन्न रूप वास्तव में कामवासना के ही मुँदे-ढँके रूप हैं। इन कामवासनाओं के आगे मनुष्य की चेतना पंगु बनकर रह जाती है। इस निराशा-वाद से बचने के दो मार्ग हैं। एक तो यह कि संसार को बुद्धि और तर्क सङ्गत ढङ्ग से समझने की कोशिश ही हम छोड़ दें और इस आधिभौतिक कल्पना के आगे आत्मसमर्पण कर दें। दूसरा तरीक़ा मार्क्सवाद का है जिसके अनुसार यह संसार सतत क्रियाशील है, उसमें असंख्य रूपों में परस्पर सम्बद्धता है, वह स्पष्ट और बुद्धिग्राह्य रूपों में निरन्तर विकसित हो रहा है, क्रांतिकारी संक्रमण द्वारा वह ऐसे भविष्य की ओर बढ़ रहा है जिसके लिये इति कहना मनुष्य की शक्ति के बाहर है। इन दोनों में कोई समन्वय नहीं हो सकता। फ्रॉयडवादी

दर्शन का वास्तविक आधार यही है कि खाओ, पियो और मौज करो, आखिर कल तो मरना ही है। जैक्सन के अनुसार इनके मरने से संसार का ज्यादा नुकसान भी न होगा (Let us eat, drink and be lecherous, for tomorrow we die : and serve us bloody well right.)

युद्ध के पहले मार्क्सवाद के प्रति बड़ी हमदर्दी का इजहार करते हुए कुछ प्रयोगशील कवियों ने यह कहा था कि सामाजिक संघर्ष की जो व्याख्या कम्युनिस्ट करते हैं वह एकरस हो जाती है। पूँजीवाद और क्रान्ति, पूँजीवाद और क्रान्ति,—आखिर यह राग कब तक सुना जाय ? इसलिये स्टीफ़ेन स्पेन्डर ने यह सिफ़ारिश की थी कि आधुनिक दृष्टिकोण में फ्रॉयड का मनोविज्ञान मिलाने पर ही उसकी आधुनिकता पूर्ण होगी। सोवियत आलोचक मिर्स्की ने अपने एक लेख में (इन्टरनैशनल लिटरेचर, अक्टूबर, '३६) इस धारणा की आलोचना करते हुए कहा है कि यह दर्शनशास्त्र में ठगविद्या जोड़ने का प्रयास है। क्रान्ति की ओर अभिमुख होकर एक सचेत धारणा को लेकर चलने के बदले स्पेन्डर ने निष्क्रिय बने रहने की सिफ़ारिश की है। मार्क्सवादियों की अपेक्षा फ्रॉयड की व्याख्या स्पेन्डर को अधिक सरस मालूम हुई। इस सरसता का कारण यह है कि वह व्याख्या क्रान्ति का विरोध करती है। आधुनिक समाज में कामवासनायें दमित की जाती हैं। जब ये फूट पड़ती हैं, तो युद्ध होता है। क्रान्ति भी तो एक तरह का युद्ध है ! दमित इच्छाओं के फूटने से क्रान्ति होगी तो इससे इच्छाओं की शान्ति कैसे होगी ? इसलिये क्रान्ति निरर्थक सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार विज्ञान-विरोधी धारणायें क्रान्ति को अस्वीकार करने के लिये मनोविज्ञान का चोला पहन कर सामने आ खड़ी होती हैं।

(So Freudisom has been mobilized to call into question the very possibility and usefulness of revolution. Idealistic and anti-scientific quackery as is its nature, has once again proved inseparable from the anti-revolutionary interests of the ruling class.)

स्टीफ़ेन स्पेन्डर किसी ज़माने में एक क्रान्तिकारी लेखक माना जाता था। उसने फ़ासिस्ट-विरोधी मोर्चे में लेखक की हैसियत से काफ़ी काम किया था। लेकिन उसके चिंतन में बहुत बड़ी-बड़ी ख़ामियाँ थीं। आख़िर को युद्धकाल में वे उसे ले डूबीं। मिर्स्की ने इसकी चेतावनी पहले ही दे दी थी। स्पेन्डर ने युद्धकाल में एक छोटी पुस्तिका लिखी जिसमें उसने अपने पिछले साहित्य का खण्डन करते हुए निष्क्रियता की इस भावना का प्रतिपादन किया कि लेखक को सिर्फ़ प्रश्न पूछने चाहिये, उनका उत्तर देने की चेष्टा उसे न करनी चाहिये। एक विचित्र ढङ्ग से शेक्सपियर से लेकर टेनिसन तक इङ्गलैंड के बड़े-बड़े कवियों को उसने प्रश्नसूचक चिह्नों के रूप में खड़ा कर दिया जिनके पास कहीं भी किसी प्रश्न का उत्तर नहीं है। हिन्दुस्तान के पाठकों और लेखकों को यह समझने में विशेष कठिनाई न होनी चाहिये कि फ्रॉयड और मार्क्स के गठबन्धन का यह प्रयास—जिसमें आगे चलकर स्वाभाविक रूप से केवल एक ही रह जाता है और वह फ्रॉयड—संसार के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ है। यदि इंगलैंड के लेखक और कलाकार शेली और बायरन की परम्परा को निबाहते हुए अपने यहाँ के मज़दूर वर्ग और ब्रिटिश साम्राज्य की औपनिवेशिक जनता के क्रान्तिकारी संग्राम का समर्थन करते तो वे आज अपने देश की संस्कृति को उस भयानक सङ्कट में फँसा हुआ न पाते जिसमें

कि वह आज पड़ी हुई है। मिस्र और यूनान में वहाँ की जनता की इच्छा के प्रतिकूल जो अँग्रेज़ी फ़ौजें पड़ी हुई हैं, वे इतनी आसानी से वहाँ न होतीं। दूसरे महायुद्ध के बाद ब्रिटिश पूँजीवाद जिस तरह दुम हिलाता हुआ अमरीकी महाजनों के पीछे चल रहा है और क़र्ज़ ले लेकर साम्राज्य की ढहती दीवारों को लेसने-पोतने में लगा है, वह दशा भी न होती। इंगलैंड के क्रान्तिकारी साहित्यिक मोर्चे में फ्रॉयडवाद ने दरार डाली और उसका परिणाम इंगलैंड ही नहीं अन्य देशों की जनता के लिये भी अहितकर सिद्ध हुआ। वह प्रयास हिन्दुस्तान में भी अहितकर होगा और असफल भी होगा।

५. संस्कृति और परम्परा का क्या सम्बन्ध है?

प्रत्येक प्रगतिशील व्यक्ति और लेखक यह चाहता है कि वर्ग-शोषण और मनुष्य द्वारा मनुष्य के उत्पीड़न का अन्त करके एक नयी संस्कृति का निर्माण किया जाय। प्रश्न यह उठता है कि इस नयी संस्कृति का आधार क्या होगा और पिछले ज़माने की संस्कृति से उसका क्या सम्बन्ध होगा। एक बात तो स्पष्ट है कि पिछली संस्कृति से नाता तोड़ कर हवा में नयी संस्कृति को जन्म नहीं दिया जा सकता। मार्क्स ने जब यह कहा था कि आर्थिक व्यवस्था के आधार पर संस्कृति का महल बनता है तो इसका यह मतलब नहीं था कि पिछली संस्कृति में ग्रहण करने लायक़ कोई बात ही नहीं होती। अपने आरंभकाल में पूँजीवाद ने समाज में अनेक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन किये। इन परिवर्त्तनों के साथ-साथ संस्कृति के क्षेत्र में भी युगान्तरकारी परिवर्त्तन हुए और स्थापत्य, शिल्प, साहित्य, सङ्गीत, चित्रकला आदि में महान् कृतियों को जन्म दिया गया। आगे चल कर पूँजीवाद का ह्रास हुआ; इससे यह सिद्ध नहीं होता कि

आरंभ से ही साहित्य के क्षेत्र में उसने ह्रासोन्मुख प्रवृत्तियों को जन्म दिया। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि ह्रासकाल में भी बड़े-बड़े लेखक और साहित्यकार अपनी असंगतियों के बावजूद जनता की अनेक प्रगतिशील वृत्तियों को चित्रित करते हैं। प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध जोड़ने का यह दूसरा कारण होता है। नयी संस्कृति और नयी सामाजिक चेतना के भीतर पिछले युगों में जो सांस्कृतिक सम्पत्ति अर्जित की गई है, वह निहित होनी चाहिये। सामाजिक विकास में समाजवादी व्यवस्था जैसे पूँजीवादी कौशल का तिरस्कार नहीं करती वरन् उसका सुचारु उपयोग करके उसे विकसित करती है, उसी तरह और उससे भी बढ़कर नये साहित्यकार और लेखकों का कर्त्तव्य होता है कि वे पुरानी संस्कृति के तत्त्व और रूपों को अपने भीतर समेट कर उन्हें अधिक पुष्ट और विकसित करें। इस विषय में स्वयं मार्क्सवादियों ने भ्रम की गुंजाइश नहीं रहने दी। यदि अब भी कोई यह दावा करे कि मार्क्सवाद प्राचीन संस्कृति का विरोधी है, तो इसका कारण मार्क्सवाद का अज्ञान ही हो सकता है।

मार्क्स ने प्राचीन ग्रीक साहित्य और १६वीं-१७वी सदी के रिनेसैंस साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी और मार्क्सवादी ढङ्ग से ही की थी। यह सही है कि ग्रीक समाज में दास-प्रथा थी परंतु इसके बिना उस समय कृषि और उद्योगधंधों का श्रम-विभाजन असम्भव था। इस श्रम-विभाजन के आधार पर ही प्राचीन संसार की महान् ग्रीक-चेतना का जन्म हुआ (The flower of the ancient world, Hellenism—एंगेल्स, डूयरिंग मत-खण्डन)। बिना इस ग्रीक संस्कृति के नये यूरोप का जन्म असम्भव था। एंगेल्स ने मार्क्सवाद की ऐतिहासिक

आलोचना शैली का यह बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। उन्होंने लिखा है—"हमें यह न भूलना चाहिये कि हमारे तमाम आर्थिक, राजनीतिक और बौद्धिक विकास के आधार में एक ऐसी व्यवस्था रही है जिसमें दासता आवश्यक थी और सर्वमान्य भी थी। इस अर्थ में हम कह सकते हैं कि प्राचीन संसार की दासता के बिना आधुनिक समाजवाद का जन्म भी न होता।" (Without the slavery of antiquity, no modern socialism.)

'क्रिटीक आफ़ पोलीटिकल इकॉनॉमी' में मार्क्स ने ग्रीस की कला के बारे में लिखते हुए कहा है—"कठिनाई इस बात को समझने में नहीं है कि ग्रीस की कला और महाकाव्य वहाँ के सामाजिक विकास से जुड़े हुए हैं या नहीं। कठिनाई इस बात को समझने में होती है कि उनको देखने और पढ़ने से मनुष्य को आज भी रस क्यों मिलता है और आज भी एक हद तक उन्हें ऐसा आदर्श क्यों माना जाता है जहाँ तक हम पहुँच नहीं पाते ?"

इसका उत्तर मार्क्स ने यों दिया है—"आदमी फिर बच्चा नहीं हो सकता जब तक कि वह बचकाना न हो जाय। लेकिन क्या वह ख़ुद बचकाना हुए बग़ैर बच्चों की भोली-भाली बातों से रस नहीं लेता और क्या उन बातों की सच्चाई को एक ऊँचे धरातल पर प्रकट करने की कोशिश न करनी चाहिये ? जो बात बच्चों पर लागू होती है, वह क्या पुराने युग की विशेषता पर लागू नहीं हो सकती ? मानव जाति का सामाजिक बचपन जिस सुन्दर रूप में सबसे अधिक विकसित हुआ, हमारे लिये वह क्यों न आकर्षक हो, यद्यपि वह बचपन फिर लौट कर न आयेगा ? कुछ बच्चे कुसंस्कृत होते हैं ; और कुछ बच्चे कुशाग्र

बुद्धि होते हैं। बहुत सी पुरानी जातियाँ कुशाग्र बुद्धि के बच्चों जैसी हैं। ग्रीस के निवासी स्वस्थ बच्चे थे। उनकी कला का आकर्षण उनकी समाज व्यवस्था के प्राथमिक रूप से टक्कर नहीं खाता जिससे कि वह पैदा हुआ था। यह आकर्षण तो इसी लिये पैदा होता है कि जिन अविकसित सामाजिक परिस्थितियों में यह कला उत्पन्न हुई थी और जिन परिस्थितियों में ही वह उत्पन्न हो सकती थी, वे अब फिर लौट कर नहीं आ सकतीं।"

ग्रीक संस्कृति के बारे में ही नहीं, भारत की प्राचीन संस्कृति के बारे में भी मार्क्स की ऐसी ही आस्था थी। हिन्दुस्तान के बारे में जो अपने प्रसिद्ध पत्र उन्होंने लिखे थे, उनमें भारत की संस्कृति को यूरोप के धर्मों और संस्कृतियों की जननी कहा था। इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मार्क्सवाद वास्तव में सांस्कृतिक परम्परा का पोषक है और मनुष्य की अर्जित सांस्कृतिक निधि को कभी भी खोना नहीं चाहता। कम्युनिस्ट-मैनीफेस्टो के इटालियन संस्करण की भूमिका में एंगेल्स ने दान्ते को मध्यकाल का अंतिम कवि और आधुनिक युग का प्रथम कवि कहा था। अपनी पुस्तक 'डायलेक्टिक्स ऑफ नेचर' में रिनेसैंस के नये सांस्कृतिक जागरण पर भी प्रकाश डाला था। "इटली में कला की ऐसी उन्नति हुई जिसकी कल्पना किसी ने स्वप्न में भी न की थी। मालूम होता था कि प्राचीन कला का यह नया अवतार है। उस सौंदर्य तक यूरोप के लोग फिर न पहुँचे। इटली फ्रांस और जर्मनी में एक नया साहित्य पैदा हुआ जो पहला आधुनिक साहित्य है और उसके कुछ दिन बाद ही इंगलैंड और स्पेन के स्वर्णयुगों का आरम्भ हुआ।" लेनिन ने मार्क्सवाद के लिये ठीक ही लिखा था कि "वह अपने में इतिहास की तमाम चेतना को समेट लेता है

और उसे सर्वहारा वर्ग की चेतना बना देता है। पूँजीवादी युग की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक विजय को वह खोता नहीं है। इसके बदले उसे वह आत्मसात् करके पुनर्विकसित करता है। दो हज़ार वर्ष तक मनुष्य ने अपनी चेतना और संस्कृति का जो भी विस्तार किया है, मार्क्सवाद उसे अपने में ग्रहण करता है। इस दिशा में और इस आधार पर ही काम करके नयी संस्कृति का विकास, जिसमें शोषण के ख़िलाफ़ मज़दूरों के पिछले संघर्ष का अनुभव भी जोड़ा जायगा, सम्भव होगा।" (सोवियत् पत्रिका 'नोवीमीर' के मई १९४७ के अङ्क में उद्धृत)।

लेनिन ने स्वयं पिछले साहित्यकारों और विचारकों पर बहुत काफ़ी लिखा है। १८वीं सदी के नये भौतिकवादी विचारकों की रचनाओं को पढ़ने की उन्होंने कई जगह सिफ़ारिश की थी। जारशाही रूस के आलोचक बेलिन्स्की, चर्निशेव्स्की, हर्ज़ेन आदि पर काफ़ी विस्तार से उन्होंने लिखा है और युग की सीमाओं के बावजूद उनकी क्रान्तिकारी देन की प्रशंसा की है। तोल्सतोय पर तो उन्होंने अनेक बार लिखा था और उनके वे लेख मार्क्सवादी आलोचना के श्रेष्ठ उदाहरण माने जाते हैं। प्राचीन साहित्य के मूल्याङ्कन में कुछ लोग केवल अपनी श्रद्धा अर्पित करके उस कार्य को समाप्त कर देते हैं। परन्तु इन पिछले साहित्यकारों ने अपने युग के घटनाक्रम पर, उस युग की विचारधारा पर, जो प्रभाव डाला था और ऐसा प्रभाव जो प्रगति की ओर ले जाने वाला था, उसका मूल्याङ्कन न करके वास्तव में वे प्राचीन साहित्य का अनादर करते हैं और उसकी शक्ति और प्रेरणा देने वाली संवेदना के प्रति अन्याय करते हैं। इसके साथ ही युग की सीमाओं को परखना भी आवश्यक होता है। लेनिन ने तोल्स्तोय पर लिखते हुए उस कलाकार के

महत्त्व को पूरा पूरा स्वीकार किया है परंतु किसानों का जो अपाहिजपन, उनका धार्मिक अंधविश्वास तोल्स्तोय की रचनाओं में प्रतिबिंबित हुआ है, उसकी ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। इस ऐतिहासिक दृष्टि से ही हम प्राचीन साहित्य और संस्कृति का सही मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

इस पर कुछ लोगों को आपत्ति होती है कि इस तरह तो आलोचना में हर युग के लिये अलग-अलग मापदंड बनते रहेंगे और हमारे पास साहित्यिक मूल्य के लिये शाश्वत कसौटी न रह जायगी। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब नहीं होता कि साहित्य की अमरता को हम अस्वीकार करें या उसके युग-युग में जीवित रहने वाले सौंदर्य का अनादर करें। ऐतिहासिक दृष्टिकोण का यह मतलब है कि सामाजिक पृष्ठ-भूमि में हम कला के रूप और विषयवस्तु को पहचानें। मार्क्स ने ग्रीक साहित्य और कला के आकर्षण का उल्लेख करते हुए कहा था कि प्राथमिक समाज व्यवस्था से वह उत्पन्न हुआ था और इससे उसका अभिन्न सम्बन्ध है। इसका यह मतलब नहीं था कि ग्रीक कला का अनादर किया जाय। मार्क्स ने बताया था कि यह कला कितनी आकर्षक है और प्राथमिक समाज-व्यवस्था से उत्पन्न होने के कारण उसका सौंदर्य घटा नहीं बल्कि बढ़ गया है। लेकिन ऐतिहासिक दृष्टिकोण के अभाव में पूँजीवादी इंगलैंड के उन विचारकों को क्या कहा जाय जो अपने युग के संघर्ष से बचने के लिये ग्रीस की प्राथमिक समाज व्यवस्था की ओर लौट जाना चाहते थे और समझते थे कि इस तरह वे एक महान् कला को जन्म दे सकेंगे! सुनने में बात बड़ी मूर्खतापूर्ण मालूम होती है लेकिन क्या हमारे देश में ऐसे लोगों की कमी है जो

साम्राज्य और पूँजी की विभीषिका से बचने के लिये फिर वैदिक युग में लौट जाना चाहते हैं और समझते हैं कि एक बार फिर कविगण अग्नि और वरुण की उपासना करने लगेंगे ? ऐतिहासिक दृष्टिकोण न होने से प्राचीन संस्कृति के साथ ऐसी ही खींचातानी होती है।

संतकाल और छायावाद की देन को भी इसी दृष्टिकोण से समझना होगा। संतकवियों की सीमायें थीं। उनके ज़माने में जनता का कोई संगठित आन्दोलन न था, इसलिये सामंती उत्पीड़न से मुक्त होने की लालसा सीधे राजनीतिक रूप में प्रकट न होकर धार्मिक और अन्य सांस्कृतिक रूप लेती थी। केवल धार्मिक रूप होने से उसका क्रान्तिकारी तत्त्व कम नहीं हो जाता। युग की सीमायें इस प्रकार के वाह्य रूप कला पर थोप देती हैं, परंतु मानववादी चेतना इनसे टक्कर लेती हुई साफ दिखाई देती है। इस युग में श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने संत साहित्य के इस मानववादी पक्ष को सबसे पहले पहचाना था। शास्त्रीय कर्मकांड के विरुद्ध संत कवियों की मानववादी धारा से उन्होंने देश के नये सांस्कृतिक जागरण का सम्बन्ध जोड़ा था। एंगेल्स ने 'जर्मनी के किसान युद्ध' नाम की पुस्तक में मध्यकालीन समाज का विवेचन करते हुए मुएन्ज़र आदि संतों के क्रान्तिकारी चिंतन पर विस्तार से प्रकाश डाला था। इनके चिन्तन का वाह्य रूप धार्मिक था परंतु उसका आंतरिक तत्त्व जागीरदारी प्रथा का विरोधी था।

छायावाद भारत के नये पूँजीवादी अभ्युदय के साथ उत्पन्न हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रारंभिक अवस्था में पूँजीवाद किसी हद तक एक प्रगतिशील शक्ति के रूप में आया और उस आन्दोलन का नेतृत्व करता रहा। अपने सांस्कृतिक रूप में उसने सामंती

परम्पराओं का विरोध किया और साहित्यकारों में नये प्रसार और विकास की भावना पैदा की। पच्छिमी साहित्य से और विशेष रूप से अंग्रेज़ी साहित्य से उन्हें परिचित करा के साहित्य में नये-नये प्रयोग करने की प्रेरणा दी। उसने सामाजिक बन्धनों को तोड़ने और प्रगति को रोकने वाली रूढ़ियों से विद्रोह करने की उदात्त भावना की सृष्टि की। यह छायावाद का प्रगतिशील विद्रोही पक्ष है। परंतु जब तक राष्ट्रीय आन्दोलन में जन-साधारण अपने पूर्ण महत्व के साथ प्रतिष्ठित नहीं हुए यानी किसानों और मज़दूरों का संघर्ष स्वाधीनता के आन्दोलन का अंग नहीं बन गया, तब तक इस आन्दोलन की सीमायें छायावादी साहित्य में भी प्रतिबिंबित हुईं। असंतोष और विद्रोह के साथ पलायन और रहस्यवादी अस्पष्ट चिंतन की प्रवृत्ति भी जागी। कुछ दिन बाद ज्यों-ज्यों देश का जन-आन्दोलन समर्थ होता गया, त्यों-त्यों यह बात साफ़ होती गयी कि छायावादी साहित्य में या तो रहस्यवादी चिंतन ही रहेगा या जनसाधारण को लेकर उसका विद्रोही पक्ष आगे बढ़ेगा। सन् '३० के आन्दोलन के बाद छायावादी कवियों में जो एक परिवर्त्तन दिखाई देता है उसका कारण देश का यह सामाजिक और राजनीतिक परिवर्त्तन है। अनेक छायावादी कवि प्रगतिशील साहित्य के नये आन्दोलन के साथ इसीलिये आये कि पुरानी सीमाओं में—सामाजिक असंतोष और रहस्यवादी चिंतन की असंगतियों में—आगे बढ़ना असम्भव था। युद्धकाल में हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन किस सङ्कट में पड़ा और देश में कैसा गति-रोध उत्पन्न हुआ, इसको सभी लोग जानते हैं। १९४७ में राजनीतिक परिवर्त्तनों के साथ जो जनसंहार रचा गया, उससे जनवादी आन्दोलन को फिर ठेस लगी। ऐसी दशा में छायावाद

की वे पतनोन्मुख प्रवृत्तियाँ जिन्हें स्वयं छायावादी कवियों ने तिलाञ्जलि दे दी थी, आज फिर सिर उठाने लगी हों तो कोई आश्चय नहीं। परंतु जिन सामाजिक परिस्थितियों में छायावादी साहित्य की रचना हुई थी, वे अब लौट कर नहीं आ सकतीं। इसलिये छायावाद का पुनर्जीवित करने का प्रयास व्यर्थ होगा। उसके विद्रोही पक्ष से नाता जोड़कर नया प्रगतिशील साहित्य आगे बढ़ेगा।

६. संस्कृति का उद्गम समाज है। मानव सङ्गठन के बिना संस्कृति की कल्पना नहीं की जा सकती। अपने जन्म से ही संस्कृति मनुष्यों के परस्पर मिले-जुले जीवन का प्रतिबिम्ब बन जाती है। मानसिक धरातल पर वह उनके भौतिक सम्बन्धों का प्रतिरूप उपस्थित करती है। सामंती युग का ह्रास आरंभ होने पर नयी भाषाओं और नयी जातियों का अभ्युदय हुआ। मध्यकालीन यूरोप में इसी प्रकार इटालियन, फ्रेञ्च, स्पैनिश आदि भाषाओं के साथ नई जातियों का जन्म हुआ। हिन्दुस्तान में उससे कुछ आगे-पीछे बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का विकास हुआ। ये भाषायें नयी जातियों के विकास की सूचक थीं।

स्तालिन ने जाति की व्याख्या करते हुए बताया है कि एक भू-खंड में साथ रहने, एक ही आर्थिक जीवन में बँधे रहने, एकसा मानसिक गठन (Psychological make-up) और एक भाषा तथा संस्कृति होने से जाति बनती है। जिस तरह फ्राँसीसी, इतालवी, जर्मन आदि जातियाँ हैं, उसी प्रकार तमिल, आंध्र, मलयाली, पंजाबी आदि जातियाँ भी भारत में हैं। अँग्रेजों ने अपने साम्राज्य को सुरक्षित रखने के लिये इन जातियों के सहज विकास में नयी बाधायें पैदा कीं। हर जाति

के ऊपर ताल्लुक़दार और जागीरदार बिठा दिये जो सामंतशाही का बोझ उन पर लादे रहें। इसके अलावा देशी रियासतों और ब्रिटिश सूबों में अस्वाभाविक रूप से इन जातियों को बाँट दिया। इसीलिये भाषा और संस्कृति के आधार पर प्रान्त-निर्माण की माँग राष्ट्रीय आन्दोलन का एक अभिन्न अङ्ग बन गया। इस अर्थ में भारत की एक अखंड संस्कृति नहीं है परंतु भारतीय संस्कृति नाम का एक वस्तु अवश्य है जो इन अनेक खंडों से मिलकर बनी है। इसी तरह हम यूरोप की संस्कृति की बात भी कहते हैं जिसका अर्थ होता है वहाँ के भिन्न देशों की संस्कृति के एक मिले-जुले रूप से। सामंतकाल में इस संस्कृति की एकता स्थापित करने में सबसे बड़ा काम संत कवियों ने किया। इसीलिये भिन्न-भाषाओं का विकास करते हुए चंडीदास, नरसी भगत और दादू एक ही संस्कृति के विकास में तत्पर भी दिखाई देते हैं। बीसवीं सदी में बँगला के रवीन्द्र-नाथ और हिन्दी के छायावादी कवि अपनी भाषा और साहित्य को अलग-अलग विकसित करते हुए भी उनमें एक मिली-जुली सांस्कृतिक चेतना भरते हुए दिखाई देते हैं। भारत के स्वाधीन जनतंत्र बनने पर इन जातियों का रुका हुआ विकास पूर्ण होगा। भिन्न भाषाओं और उनके साहित्य की प्रगति में जो बाधायें रही हों, उन्हें हटाने के बाद इनका तीव्रगति से सहज विकास होना चाहिये। परंतु भिन्न जातीय रूप होते हुए भी इनके आंतरिक जीवन में बहुत बड़ी समानता होगी और इस समानता का आधार भारतीय जनतन्त्र होगा। बङ्गाल, महाराष्ट्र और आंध्र के किसान और मजदूर मध्यवर्ग के साथ मिल कर इस नयी संस्कृति का विकास करेंगे जो भिन्न जातियों के कारण अलग अलग जातीय रूप धारण करती हुई भी किसान-मजदूरों

की एकता के कारण एक ऐसा मिला-जुला जनतांत्रिक रूप लेगी जिसे हम फिर समूचे भारत का कह सकेंगे।

आज हिन्दुस्तान में जो लोग अपनी भाषाओं और संस्कृतियों के विकास में लगे हैं, उन्हें यह बात बार-बार ध्यान में रखनी होगी कि सभी जातियों के साहित्य और संस्कृतियों का तत्त्व एक हो—और यह तत्त्व न तो वैदिक हो सकता है, न मध्य-कालीन हो सकता है, न छायावादी हो सकता है। साहित्य की विषय वस्तु जन साधारण की आकांक्षाओं, उनके संघर्ष और जीवन द्वारा नियमित होगी। उसका रूप जातीय होगा, आत्मा जनतांत्रिक होगी।

७. हिन्दुस्तान का बँटवारा राजनीतिक और सामाजिक जीवन के लिये कितना घातक सिद्ध हुआ है, यह तो हम देख चुके हैं। अनिवार्य रूप से उसका सांस्कृतिक जीवन पर भी गहरा असर पड़ा है। अँग्रेजों ने जो आजादी दी, रजनी-पाम दत्त के शब्दों में उसके साथ ऐसा टाइम-बम रख दिया जिसने फूट कर राष्ट्रीय आन्दोलन को भारी क्षति पहुँचाई। परंतु यह न भूलना चाहिये कि अँग्रेजों ने राजनीतिक परिवर्त्तन तभी किया जब हिन्दुस्तान के जन आन्दोलन ने क्रान्ति की ओर पैर उठाना शुरू कर दिया था। देश में जहाँ-तहाँ किसानों ने जमींदारी प्रथा के ख़िलाफ़ तीव्र आन्दोलन शुरू किया था। मजदूरों ने अपने अधिकारों के लिये राज्य की सशस्त्र शक्ति का मुक़ाबिला किया था। काश्मीर और त्रावणकोर में रियासती जनता ने फ़ौजी लड़ाइयाँ लड़ी थीं। बम्बई के नाविक विद्रोह में सेना और जनता के सम्मिलित मोर्चे का पहला निदर्शन मिला था। इन सब घटनाओं से हमारा सांस्कृतिक जीवन ह्रास की ओर नहीं,

प्रगति की ओर बढ़ा था। उस शक्ति को बटोर कर हम इस टाइम बम को भी विफल कर सकते हैं और कुछ भागों में जो आतङ्क छाया हुआ है, उसे दूर कर सकते हैं। जिस जन-आन्दोलन से ब्रिटिश साम्राज्य त्रस्त हो उठा, उसके आगे साम्राज्य की पाली-पोसी टुटपुँजिया शक्तियाँ घुटने टेकने पर बाध्य की जायेंगी। घटना-क्रम यह दिखाता है कि बँटवारे के बाद भी जन-आन्दोलन की शक्ति से ब्रिटिश कूटनीति को कैसे धक्का पहुँचाया जा सकता है।

१५ अगस्त के बाद जहाँ भी जन-आन्दोलन सशक्त रहा है, वहाँ ब्रिटिश कूटनीति असफल हुई है और संस्कृति को आगे बढ़ने का अवसर मिला है। यह बात सबसे अधिक हम आंध्र में देख सकते हैं जहाँ का जन-आन्दोलन विच्छिन्न होने के बदले और भी वेग से आगे बढ़ रहा है और अपने सांस्कृतिक जीवन को भी इस प्रकार पुष्ट करता जाता है। बङ्गाल में शान्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न किया गया और कम से कम अभी तक पञ्जाब का नाटक वहाँ नहीं खेला जा सका। इसका कारण यह नहीं है कि जनसंहार कराने वाली शक्तियाँ हार मान कर चुप बैठ गयी हैं बल्कि यह कि वहाँ के शान्ति आन्दोलन ने उन्हें उभरने का मौक़ा नहीं दिया। पूर्वी और पश्चिमी बङ्गाल के दोनों ही भागों में बँगला को ही प्रान्त की भाषा माना गया है। यह एकता की बहुत मज़बूत कड़ी है जो प्रतिक्रियावाद को परास्त करके बङ्गाल को फिर एक करने की क्षमता रखती है। बङ्गाल का सांस्कृतिक जीवन छिन्न-भिन्न नहीं हुआ तो इसका श्रेय वहाँ के जन-आन्दोलन को है। इस बात से यह बहुत स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक जीवन ही संस्कृति का मूल स्रोत है और बिना सङ्गठित और सशक्त जन-

आन्दोलन के विकासमान संस्कृति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। निस्सन्देह बङ्गाल का विभाजन वहाँ की मिली-जुली संस्कृति और भाषा के बिकास में बहुत बड़ी बाधा है परंतु इस बाधा को जनतंत्र के आधार पर चलने वाला आन्दोलन दूर कर सकता है।

उधर पञ्जाब में राष्ट्रीय आन्दोलन की निर्बलता के कारण देशी-विदेशी कूटनीतिज्ञों को आशातीत सफलता प्राप्त हुई। सभी लोग जानते हैं कि वहाँ के जनसंहार से मानवी मूल्यों और नैतिक चेतना को भारी धक्का लगा है। जनसंहार रचने वालों ने पूरी कोशिश की है कि मनुष्यता को ऐसा क़ुन्द कर दिया जाय कि पाशविकता के आधार पर फ़ासिज्म क़ायम करने में कोई कठिनाई न हो। पंजाब की भाषा और संस्कृति एक है परंतु राष्ट्रीय आन्दोलन के नेताओं ने जातियों के आत्म निर्णय के अधिकार का बराबर विरोध किया और उसे पूरा-पूरा मानकर अपने आन्दोलन को सशक्त न बनने दिया। इसीलिये धर्म के आधार पर बँटवारा करने में अँग्रेजों को सफलता मिली और इसकी जिम्मेदारी उन्होंने राष्ट्रीय आन्दोलन के सिर पर मढ़ दी। आत्मनिर्णय के आधार पर ही भारत में एकता क़ायम हो सकती है और यह अधिकार जनतंत्र के पूर्ण विकास से ही लागू किया जा सकता है।

आत्मनिर्णय का सिद्धान्त न मानने से अनेक नरमदली नेता भाषा और संस्कृति के क्षेत्र में भी धर्म और अंधप्राचीनता-प्रेम को लागू करने में लगे हैं। इसका बहुत बड़ा असर राष्ट्र-भाषा के प्रश्न पर पड़ा है। अभी तक केवल कुछ अंधविश्वासी 'रिवाइवलिस्ट' ही हिन्दी को संस्कृत का रूप देने में लगे थे। अब काफ़ी नरमदली नेताओं ने इस सिद्धान्त को मान लिया है

कि हिन्दी का विकास आम जनता की बोलचाल की भाषा के रूप में न होकर कुछ पंडितों की लिखी हुई संस्कृत-बहुल भाषा की ओर हो रहा है। यह दृष्टिकोण हिन्दी के बड़े-बड़े लेखकों की परम्परा को भूल जाता है। भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने वह धारा नहीं चलाई थी जिसका आज बहुत से हिन्दी के भक्त समर्थन करते हैं। हिन्दी जनता की भाषा है, पुस्तकों की भाषा नहीं है। जिस हिन्दी पर हम गर्व करते आये हैं और जिसे संसार की उन्नत भाषाओं में स्थान देने की हमारे हृदय में लालसा है, वह हिन्दी अमरनाथ झा और कन्हैयालाल मानिकलाल मुंशी द्वारा समर्थित भाषा नहीं है। वर्त्तमान संसार में किसी भी भाषा ने अपने जन-स्वीकृत रूप को छोड़ कर क्लासिक्स के सहारे अपना स्थान ऊँचा नहीं बनाया।

हिन्दी और उर्दू के भेदभाव के बावजूद उनकी परस्पर समानता को विकसित करने का जो प्रयत्न हो रहा था, उसे इस बँटवारे से भारी धक्का लगा है। लोग यह भूल जाना चाहते हैं कि दुनिया की कोई भी दो भाषायें परस्पर इतना मिली-जुली नहीं हैं जितनी कि हिन्दी और उर्दू। ग्रामीण जनता अपनी बोलियों में जिस तरह संस्कृत और फ़ारसी के शब्दों को अपनाती है, वह इन दोनों भाषाओं की भावी एकता की ओर संकेत करता है। हिन्दी और उर्दू को बोलने वाली दो नेशनैलिटी नहीं हैं। धर्म के आधार पर दो जातियाँ बना कर हिन्दी और उर्दू को अलग नहीं किया जा सकता। ऐतिहासिक कारणों से बाध्य होकर दोनों के लिखने और बोलने वालों को एक जगह आना ही पड़ेगा और एक मिली-जुली भाषा बनानी ही पड़ेगी। राष्ट्रभाषा की समस्या का जो भी समाधान हो,

वह इस भावी अनिवार्यता को दृष्टि में रखकर ही करना उचित होगा।

हर देश में मुख्य भाषा के साथ बोलियाँ भी होती हैं। हिन्दुस्तान में राष्ट्रभाषा के साथ मराठी, बँगला आदि भाषायें रहेंगी जो बोलियाँ नहीं हैं। इनके साथ इनकी बोलियाँ भी रहेंगी। हिन्दी बोली नहीं एक भाषा है। अवधी, ब्रज, बुन्देली, भोजपुरी आदि को हिन्दी की बोली कहा जाता है। उनको बोलने वाले अलग-अलग नेशनैलिटी के नहीं माने जाते। उन्हें स्वतंत्र भाषाओं के रूप में स्वीकार करना अभी एक विवाद का प्रश्न बना हुआ है। इसका यह मतलब नहीं है कि इन बोलियों में कुछ लिखा न जाय। आज भी इनमें गीत लिखे जाते हैं। सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों ही दृष्टियों से वे बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। परंतु शिक्षा और विज्ञान के प्रसार के लिये यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि इनके आधार पर नये प्रान्त बना दिये जायें।

इस प्रसङ्ग में सोवियत् संघ की बहुत गलत मिसाल दी जाती है। वहाँ पर जिन अविकसित भाषाओं को उन्नत किया गया है, वे किसी नेशनैलिटी की भाषा थीं। इतिहास के सहज विकास में जो जातियाँ बन गई थीं और जारशाही रूस ने जिनके विकास को रोक रक्खा था, सोवियत् जनतंत्र ने उन्हें फूलने-फलने का अवसर दिया। लेकिन कहीं ऐसा नहीं हुआ कि भाषाओं और बोलियों को आधार मानकर उतने ही नये प्रान्त बनाये गये हों। यदि ऐसा होता तो सोवियत् संघ में जितनी भाषाएँ हैं, उनके बोलने वालों के उतने ही अलग-अलग प्रान्त बन गये होते।

हिन्दुस्तान का जनपदीय आन्दोलन यह बताता है कि

किसान जनता अपनी दबी हुई सांस्कृतिक प्यास बुझाना चाहती है। वह राजनीतिक और सामाजिक जीवन में सक्रिय भाग लेकर अपनी संस्कृति को उन्नत करना चाहती है। इस कार्य में जनपदीय बोलियाँ उसकी सहायता करती हैं। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि प्रान्तों में भारतीय जनतंत्र से भय खाने वाले लोग सामंत और जागीरदार यह कोशिश करते हैं कि इस जनपदीय आन्दोलन की बागडोर अपने हाथ में ले लें। उनके इस प्रयत्न से सतर्क रहना चाहिये क्योंकि वह सांस्कृतिक एकता और जनतंत्र के विकास में घातक सिद्ध होगा। दूसरी तरफ़ यह भी निर्विवाद सत्य है कि जनपदीय बोलियों से स्वयं हिन्दी को अपने विकास के लिये बहुत बड़ी शक्ति मिलेगी। इस परस्पर सम्बन्ध को समझकर हम हिन्दी और जनपदीय बोलियों के आन्दोलन को एक ही सूत्र में बाँध सकेंगे।

साहित्य की भविष्यवाणी

दुनिया में बहुत सी भाषायें हैं; उनके अलग-अलग साहित्य हैं। लेकिन जिस तरह अलग-अलग मनुष्यों के होते हुए भी मनुष्यता नाम की एक ऐसी वस्तु है जो सभी में पायी जाती है या पायी जानी चाहिये, उसी तरह भाषाओं और साहित्यों के अलगाव के बावजूद "साहित्य" नाम की एक ऐसी वस्तु है जो सभी में समान रूप से विद्यमान है। मिसाल के लिये हम बँगला, हिन्दी या मराठी साहित्यों की बात भी कहते हैं लेकिन जब समूचे भारतीय साहित्य की बात उठाते हैं, तब उससे हमारा मतलब उन सभी भाषाओं के साहित्यों में समान रूप से विद्यमान किसी एक वस्तु से होता है। इसी तरह अँग्रेज़ी, जर्मन और फ्रांसीसी साहित्य अलग-अलग चीज़ें हैं लेकिन जब हम पच्छिमी साहित्य की बात कहते हैं, तब हमारा मतलब इन सब में व्यापक किसी एक वस्तु से होता है। थोड़ा और आगे बढ़कर जब शेक्सपियर या रवीन्द्रनाथ को हम विश्वकवि कहते हैं तो उसका सिर्फ़ यह मतलब नहीं होता कि ये कवि विश्व में प्रसिद्ध हैं। हमारा मतलब होता है कि इनके साहित्य में प्रकट किये हुए भाव और विचार विश्व के लिये, मनुष्य मात्र के लिये श्रेयस्कर हैं। जो लोग किसी मत, धर्म या जाति (नस्ल) के आधार पर राष्ट्र की कल्पना करते हैं और साहित्य को भी उसी चौखटे में जड़ा हुआ देखना चाहते हैं, उनके लिये व्यापकता और समानता की ये बातें खल जाने वाली होती हैं।

उनके संकुचित विचार और कट्टर कल्पनायें साहित्य की इस व्यापकता में डूब कर रसातल पहुँच जाती हैं।

जाति, धर्म और मत की सीमाओं को तोड़ने का काम सब से पहले अक्षर करते हैं। इन्हें 'अक्षर' नाम बहुत ही उपयुक्त दिया गया है। मनुष्य के मुँह से निकलने वाली ध्वनियों के प्रतीक रूप ये अक्षर सभी भाषाओं में विद्यमाम हैं। भाषायें मिट जाती हैं, उनके बोलने वाले मिट जाते हैं, लेकिन अपने नाम को सार्थक करने वाले ये अक्षर फिर भी बने रहते हैं। वैदिक, प्रागूवैदिक और उत्तर-वैदिक काल में अनेक जातियों ने दूसरी जातियों पर आक्रमण किया। देश के देश गुलाम बन गये, सभ्यतायें ढह गयीं, नई संस्कृतियों का निर्माण हुआ; परंतु ये अक्षर, इतिहास की गति के साक्षी, एक भाषा, एक संस्कृति से निकल कर दूसरी भाषा और दूसरी संस्कृति में अभेद्य हीरे जैसे जगमगाने लगे। हेलेनिक सभ्यता के उत्थान-काल में फ़िनीशियन सभ्यता का पतन हुआ परंतु अक्षरों के रूप में उस प्राचीन संस्कृति की देन सुरक्षित रही। हेलेनिक आर्यों का आल्फ़ा और सेमेटिक जातियों का अलिफ़ उनकी वर्णमालाओं के सिरमौर बने हुए दोनों के जातीय भेद पर व्यंग्य करते हुए आज भी जमें बैठे हैं। मराठी और अन्य दक्षिणी भाषाओं के अक्षरों की ध्वनियाँ जब लैटिन और स्लाव परिवार की भाषाओं में ज़हाँ-तहाँ मिल जाती हैं, तब उनके अक्षर भेद की खाइयों से बँटे हुए पंडितों से कहते हैं कि तुम अब भी निरक्षर हो।

इसके बाद शब्दों की बारी आती है। जातीय, भौगोलिक और धार्मिक सीमाओं को ये भी नहीं मानते। दो जातियों में युद्ध होता है परंतु इनका आयात-निर्यात जारी रहता है। हेलेनिक

जातियों के शब्दकोश में ग्रीस के प्राचीन निवासियों के सैकड़ों शब्द घुस गये। वेदों और 'ज़ेंदावेस्ता' के शब्दों में जितनी मित्रता है, उतनी मित्रता आज इन ग्रंथों के पूजने वालों में नहीं है। प्राचीन तमिल, स्लाव भाषायें, हाई जर्मन—यह एक ऐसा ताना-बाना है जिसमें भाषा शास्त्री फँसकर रह जाते हैं परंतु शब्द अदृश्य सूत्रों के सहारे एक भाषा से दूसरी भाषा तक बराबर दौड़ा करते हैं। भाषाओं के इस तानेबाने पर शब्दों को इधर से उधर भेजने वाली शक्ति न तो किसी एक भाषा, जाति या धर्म की है, न किसी एक मनुष्य की। इस शक्ति को यदि कोई नाम दिया जा सकता है तो वह है मानवता का इतिहास।

मनुष्य की भेद-सीमाओं को शब्दों से अधिक तोड़ने वाली एक दूसरी शक्ति है—विचार। भिन्न-भिन्न साहित्यों के उद्यान में घूमने वाला सहृदय पाठक चित्र-विचित्र शब्दों के झुरमुट में परिचित विचारों को बैठा देख कर आश्चर्य में पड़ जाता है। सचमुच विचारों के पंख हैं। उन्हें सम्प्रदाय, जाति और धर्म के जाल में फँसाने की बार-बार कोशिश की जाती है लेकिन शक्तिशाली विचार इस जाल को लेकर भले ही उड़ जायें, उसमें बँधे हुए नहीं रह पाते। कबीर ने जब काशी के किसी आचार्य को चुनौती दी थी, "मैं जुलहा तू कासी का पंडित, बूझौ तोर गियाना"—तब उनका अर्थ यही रहा होगा कि आचार्य की पुस्तकों में ही विचारों का कोश नहीं है। उस तक जुलाहे की भी पहुँच है और जुलाहा जिन विचारों को दे रहा है, शायद उन तक आचार्य अपना शास्त्रीय जाल लिये हुए भी नहीं पहुँच पाते।

शब्द के लिये कहा जाता है कि वह आकाशतत्त्व का गुण है। किसी प्रकार की सीमाओं में न बँधकर वह एक देश से दूसरे देश तक मानों आकाशमार्ग से पहुँच जाता है, परंतु

प्रत्येक शब्द अर्थ का संस्कार लिये होता है। शब्द और अर्थ की भिन्नता जितनी देखने में मालूम होती है, उतनी हक़ीक़त में नहीं है। गोस्वामीजी ने बहुत पहले लिख दिया था—'गिरा अरथ जल बीचि सम, कहियत भिन्न न भिन्न।' इस कारण शब्दों के साथ-साथ उनके अर्थ भी एक भाषा और देश की सीमा से निकल कर दूसरी में पहुँच जायें तो कोई आश्चर्य नहीं। मनुष्य के हृदय में जो सङ्कल्प और विचार उठते हैं वे सामाजिक विकास की अलग-अलग मंज़िलों से जुड़े होते हैं। इन मंज़िलों में समानता होने से विचारों में भी समानता होती है। इसीलिये एक से ही विचार भिन्न देशों और भाषाओं के मनुष्यों में बराबर पाये जाते हैं। इसीलिये उन्हें व्यक्त करने के लिये जो शब्द लिये जाते हैं, वे अलग-अलग होते हुए भी विचारतत्त्व में समानता पैदा हो जाती है। मोटे तौर से इंगलैंड और हिन्दुस्तान के रहस्यवादी कवियों के विचारों में बहुत बड़ी समानता है। इसी तरह यूरोप के और हिन्दुस्तान के संत कवियों में, रोमांटिक कवियों में और दरबारी कवियों में भी विचारों की बहुत बड़ी समानता है। इसका कारण वे मिली-जुली सामाजिक परिस्थितियाँ हैं जिनके भौतिक आधार से विचार-पर भरते हैं।

आज हमारे देश में धर्म के आधार पर दो राष्ट्रों की कल्पना का ज़ोरों से प्रतिपादन हो रहा है। कुछ दिन पहले तक यह अवैज्ञानिक, बुद्धि विरोधी बात केवल जिन्ना साहब और उनके अनुयायी कहते थे लेकिन अब उनके अनुयायियों की संख्या हिन्दू साम्प्रदायिकों के कारण बहुत बढ़ गई है। हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राष्ट्र का नारा लगाने वाले जिन्ना साहब के हिन्दू

अनुयायी संस्कृति और साहित्य की व्यापकता, विचारों के परस्पर आदान-प्रदान और साहित्यक्षेत्र में जातीय विद्वेष के निषेध को भूल जाते हैं। हिन्दुस्तान के प्राचीन साहित्य को, या नये जागरण काल में लिखे हुए साहित्य को भी वे अपना साक्षी नहीं मानते। यदि हम यह मान लें कि हिन्दू और मुसलमान एक दूसरे के इतने विरोधी हैं कि भाषा, साहित्य और संस्कृति की भूमि पर कभी उनका एका हो ही नहीं सकता, तो हमें अपने साहित्य और भाषा को समझने के लिये बहुत सी नयी-नयी पहेलियों का सामना करना पड़ेगा।

पहले शब्दों को लीजिये। बंगला, मराठी, तमिल, तेलगु आदि भाषायें बोलने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों के शब्द कितने फ़ीसदी एक ही हैं, यह ज़रा हिसाब लगाकर देखिये। इन भाषाओं के अलावा हिन्दी और उर्दू में कितने शब्द समान रूप से व्यवहार में आते हैं, यह भी सोचिये। पंडित लोग चाहे जितनी कोशिश करें कि म्लेच्छों के मुँह से निकले हुए शब्दों को अपनी जिह्वा से स्पर्श न करें लेकिन हिन्दी-उर्दू के ये शब्द ऐसे मुँहजोर हैं कि काफ़िरों और म्लेच्छों, दोनों के ही मुँह लगने से बाज़ नहीं आते। यदि कोई तरकीब हो तो इन्हें गंगा में डुबो कर या आग में जलाकर शुद्ध कर लिया जाय लेकिन ऐसा कोई आविष्कार न होने से शुद्ध हिन्दू-संस्कृति के हिमाय-तियों को बार-बार अपना मुख अशुद्ध करना पड़ता है। यही नहीं, दिन पर दिन इन अशुद्ध शब्दों की संख्या बढ़ती जाती है। संस्कृत के सैकड़ों तत्सम और तद्भव शब्द पिछले दस वर्षों में यवनों की भाषा में प्रयुक्त होने लगे हैं। कृष्णचन्द्र, सज्जाद ज़हीर, कैफ़ीआज़मी, अली सरदार जाफ़री, मजाज़, लतीफ़ुद्दीन अहमद, साग़र निज़ामी आदि-आदि उर्दू के लेखकों

की रचनायें पढ़िये तो पता चलेगा कि उन्होंने बहुत से ऐसे शब्दों को जुठार दिया है जिन्हें हम अभी तक हिन्दू-राष्ट्र की ही सम्पत्ति समझते थे। इस काम में साग़र निज़ामी सबसे आगे बढ़े हुए नज़र आते हैं। कुछ लीगी मुसलमान हिन्दुस्तान के लिये अपनी वफ़ादारी का ऐलान तो अब करने लगे हैं लेकिन साग़र निज़ामी ने युद्ध के पहले ही अपनी रचनाओं में बार-बार अपनी हिन्दुस्तानियत का इज़हार किया था। उन्होंने प्रेम और सौंदर्य के साथ-साथ हिन्दुस्तान, पंडित जवाहरलाल नेहरू, गौतम बुद्ध, श्री कृष्ण आदि पर भी कवितायें लिखी थीं। कुछ लोग कहते हैं कि ब्रजभाषा साहित्य में तो ज़रूर हिन्दू और मुसलमान लेखकों के विचार मिलते-जुलते हैं लेकिन आगे चलकर यह मेल-जोल बिल्कुल टूट गया है। इसमें सन्देह नहीं कि जैसे-जैसे अँग्रेज़ी साम्राज्य का शिकंजा कसता गया, वैसे-वैसे आपस की खाई भी गहरी होती गई लेकिन ऐसे लेखकों की भी काफ़ी बढ़ी हुई संख्या रही है जो इस खाई को पाटकर एक दूसरे के नज़दीक पहुँचने की बराबर कोशिश करते रहे हैं। यह कोई कम महत्त्व की बात नहीं है कि श्री मैथिलीशरण गुप्त ने हसन और हुसेन पर कविता लिखी, प्रेमचन्द ने कर्बला पर नाटक लिखा, सागर निज़ामी ने राम और कृष्ण पर कवितायें लिखीं। साग़र ने श्रीकृष्ण से कहा है—

"प्रेम और प्रीति की रीति को जगाओ फिर।"

लेकिन हम लोग भरसक कोशिश कर रहे हैं कि प्रेम और प्रीति की यह रीति बिल्कुल मिट जाय। 'प्रेम' और 'प्रीति'—इन शब्दों को साग़र ने जूठा कर दिया है; इसलिये हिन्दी शब्द-सागर से इन्हें निकाल दें तो कैसा हो?

अमीर खुसरो की तरह कहने को तबियत होती है कि हे पंडित और मौलवी, साहित्य को भी हिन्दू और मुसलमान समझने वालों, 'तू बूझ पहेली मेरी'। कहा जाता है कि शब्दों में बहुत बड़ी समानता होते हुए भी छन्द, कल्पना, विचार इतने अलग-अलग हैं कि वे कहीं एक दूसरे को छूते हुए नहीं दिखाई देते। सुनिये—

"ज़िन्दगी दौड़ी नयी संसार में
ख़ून में सबके रवानी और है;
और हैं लेकिन हमारी क़िस्मतें
आज भी अपनी कहानी और है।"

बताइये हिन्दू ने लिखी है या मुसलमान ने? शायद आप कहें कि हिन्दू ने लिखी होगी तो मुसलमानों के साथ रह कर वह आधा मुसलमान हो गया होगा। समझ बूझ कर बात कीजियेगा क्योंकि इन पंक्तियों का लिखने वाला अच्छा खासा, लम्बा-चौड़ा आदमी है। बहुत लोग उसे राष्ट्रीय कवि भी मानते हैं। कहीं उसने हाथ उठा दिया तो काफ़ी दिन तक आपका मुँह बोलने लायक़ न रह जायगा। उसका नाम है 'दिनकर'। और सुनिये—

जीवन की कुटिया में हूँ, मैं बुझा हुआ सा दीपक,
आशा के मन्दिर में हूँ मैं बुझा हुआ सा दीपक।

या—

जीवन क्या है एक रसीला और अमर संगीत,
प्रेमनगर में नहीं पुजारी मर जाने की रीत,
झाँझ की लय पर धरती नाचे और झूमे आकास,

ताल पै मेरे घुँघरू की तिरलोक में होवे रास,
मेरे मद के आगे पुजारी दुनिया का क्या मोल,
पट मंदिर के खोल।

ऐसी पंक्तियों को सुन कर मुस्लिम राष्ट्र के हिमायती 'साग़र' को आधा काफ़िर कह बैठते हैं। इससे ज़ाहिर है कि हिन्दू और मुस्लिम राष्ट्रों के समर्थक आपस की उन तमाम मिली-जुली चीज़ों को भूल जाते हैं जो हमें एक दूसरे के नज़दीक़ लाने वाली हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि हिन्दुस्तान तो अब बँट गया, वह फिर एक होगा यह सपना देखना मूर्खता है। इस तरह की बातें अक्सर वही लोग करते हैं जो खुले या छिपे तौर से हिन्दू-मुस्लिम राष्ट्रों के हिमायती हैं। एक बहुत बड़े पैमाने पर आबादी की अदला-बदली हो रही है हालाँकि एक सूबा बंगाल भी है जहाँ अभी इस हद तक की नौबत नहीं आई। आबादी की अदला-बदली को साहित्य और भाषा के क्षेत्र में लागू करें तो हमें सैकड़ों शब्द, छन्द, और विचार भी अपने यहाँ से निकाल कर दूसरी जगह भेज देने होंगे। आबादी की अदला-बदली में तो ज़िन्दा आदमियों का ही सवाल है; रास्ते में जाते हुए शरणार्थियों पर हमला करके इस समस्या को और भी आसान कर दिया जाता है। लेकिन साहित्य क्षेत्र में ज़िन्दा आदमियों से भी ज़्यादा मुसीबत का सवाल उन शब्दों का है जो मर कर भी अभी तक ज़िन्दा हैं। कोई शासन-व्यवस्था यह ताब नहीं रखती कि शब्दों और विचारों की अदला-बदली को पूरा कर सके।

व्रजभाषा साहित्य में यह कठिनाई सबसे ज़्यादा है। व्रज

के कुंजों पर सूरदास और नन्ददास के साथ-साथ आलम और रसखान ने भी क़ब्ज़ा जमा रखा है। कोई बैठा हुआ वहाँ की काँकरी चुन रहा है तो दूसरा लकुटी और कामरिया पर तीनों लोक का राज-पाट निछावर करने को तैयार है। ब्रज के कुंजों को छोड़ भी दें तो आकाश के बादलों को, पवन पुरवाई को कैसे बाँधा जायगा? ये बादल हिन्दू-मुसलमान कवियों के साहित्य में समान रूप से गरजते और बरसते हैं; बिजली की चमक से अक्सर एक ही तरह का प्रकाश भी फैलता है। 'सावन आवन कहिगे स्याम सुजान। अजहुँ न आये सजनी तरफत प्रान'। रहीम की इस बात को उनसे पहले और बाद के न जाने कितने हिन्दू कवियों ने कितनी तरह से दुहराया है। तिथि त्यौहारों तक पर इन विदेशियों ने अधिकार जमाने में आगा-पीछा नहीं किया। खेलत फाग सुहाग भरी, अनुरागहिं लालन को धरिकैं—यह रसखान महाशय हैं। उधर कविवर बोधा सुभान के आनन पर सारे जहान के रूप को क़ुर्बान करने पर तुले हुए हैं। कवि मुबारक ने तो हमारे पवित्र देवता कामदेव से उर्दू लिखवा डाली है। संस्कृत लिखना भूल कर खुशनवीस मदन मुंशी ने नारी के मस्तक रूपी काँच पर लट रूपी काफ़ लिख दिया है—

अलक मुबारक तिय बदन, लटक परी यों साफ़।
खुशनवीस मुंसी मदन, लिख्यो काँच पर काफ़॥

भक्तवर गोस्वामी तुलसीदास मस्जिद में सोने से भी परहेज़ नहीं करते—माँगि कै खैबो, मसीत को सोइबो, लेबे को एक न देबे को दोऊ।

छन्दों में और भी मुसीबत है। दोहा, बरवै, कवित्त, सवैया, चौपाई—कोई ऐसा छन्द नहीं है जिसे मध्यकाल के हिन्दू और

मुसलमान कवि समान रूप से व्यहार में न लाये हों। वर्त्तमान काल में हिन्दी के पचीसों कवियों ने उर्दू की बहरों में कविता लिखी है और इसी तरह उर्दू के पचीसों कवियों ने हिन्दी गीतों की धुन को अपनाया है। छन्द से आगे बढ़ें तो उपन्यास क्षेत्र में हिन्दू और मुसलमान पात्र साथ-साथ चलते-फिरते नजर आते हैं। खास तौर से प्रेमचन्द के उपन्यासों में उन्हें एक दूसरे से अलग करना बड़ा मुश्किल है। प्रेमाश्रम के क़ादिर मियाँ ने आख़ीर तक विद्रोही किसान का साथ न छोड़ा। उस आलोचक की क़लम बहुत तेज होनी चाहिये जो हिन्दी साहित्य से निकाल कर इन पात्रों को पाकिस्तानी साहित्य में भेज सके। प्रेमचन्द के बाद यह चीज़ कृष्णचन्द्र की कहानियों में भी नज़र आती है। दुर्भाग्य से यह महाशय हिन्दू हैं लेकिन उर्दू में लिखते हैं और हिन्दू-मुसलमानों का ख़्याल न करके दोनों को ही अपनी कहानियों में साथ-साथ घुमाते हैं। उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ने इस्लामी उपनाम रख लिया है क्योंकि अश्क मुसलमानों के ही बहते हैं, हिन्दू तो केवल अश्रुपात करते हैं। उपनामों के सिलसिले में एक बात और याद आ गई। 'आज़ाद' एक ऐसा उपनाम है जो मौलाना अबुलकलाम से लेकर क़रीब हर शहर के एक-न-एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता या लेखक के साथ जुड़ा रहता है। इस तरह के शब्दों के बारे में निपटारा कर देना होगा कि ये हिन्दी के हैं या उर्दू के; और उपनाम के लिये इन्हें हिन्दू ही इस्तेमाल कर सकते हैं या मुसलमान भी।

अक्षर, शब्द, छन्द, भाव और विचार—ये सब यही कहते हैं कि हमारी एकता का आधार बहुत ही विस्तृत और व्यापक है। दुनिया की भाषायें एक दूसरी के नजदीक आ रही हैं। उनके साहित्य तो अब भी एक दूसरे के बहुत नज़दीक पहुँच

गये हैं। हिन्दी और उर्दू तो एक दूसरी के इतनी नज़दीक हैं जितनी नज़दीक दुनिया की कोई दो भाषायें नहीं हैं। इसीलिये अक्सर यह विवाद चल पड़ता है कि ये दो भाषायें भी हैं या नहीं। इनका नया साहित्य एक ही तरह की परिस्थितियों से प्रभावित हो करके मिलते-जुलते विचारों और भावों की सृष्टि कर रहा है। हिन्दी या उर्दू का वह कथा साहित्य अपूर्ण होगा जिसमें केवल हिन्दू या केवल मुस्लिम पात्र हों। इसी-लिये साहित्य की भविष्यवाणी है कि हमारा देश फिर एक होगा। धर्म के आधार पर न दो राष्ट्र बन सकते हैं और न दो भाषायें और संस्कृतियाँ बन सकती हैं। संस्कृति, भाषा और राष्ट्र इनका एक दूसरे से अभिन्न सम्बन्ध है परंतु इनका आधार धर्म या सम्प्रदाय नहीं है। चीनी और जापानी दोनों बौद्ध हैं; जर्मन और अँग्रेज़ दोनों ईसाई हैं। लेकिन इनकी संस्कृतियाँ, इनके राष्ट्र और इनकी भाषायें भिन्न हैं। दुनिया में कोशिश यह हो रही है कि इन भाषाओं, संस्कृतियों और राष्ट्रों की सीमाओं को भी ऐसा अभेद्य न बनाया जाय कि बाहर से आदान-प्रदान बिल्कुल बन्द हो जाय। यानी दुनिया के एक बहुत बड़े जन-समूह की गति सांस्कृतिक आदान-प्रदान की ओर है। यह जनसमूह अपनी संस्कृति और राष्ट्रीयता से पीछे हट कर मत या नस्ल के आधार पर राष्ट्र बनाने की तरफ़ नहीं बढ़ रहा। वह इससे काफ़ी आगे बढ़ गया है और जहाँ है, उससे भी आगे बढ़ना चाहता है। साहित्य उसकी इस प्रगति का द्योतक है। साहित्य इस प्रगति में सहायक भी है। हमारे साहित्य की तमाम परम्परा इस बात के विरुद्ध है कि हम उदार मानवीय संस्कृति की ओर न बढ़कर मत और जाति के संकुचित आधार पर राष्ट्र या साहित्य का निर्माण करें। संसार के सभी बड़े

महान् साहित्यकारों का मूल सन्देश यही है कि हमारी मनुष्यता का पूर्ण विकास हो। साहित्य इस विकास का सबसे मुखर रूप है और इसीलिये उसकी यह भविष्यवाणी है कि मानव-समाज को ज्यादा दिन तक ऐसी सीमाओं में नहीं बाँधा जा सकता जो एक समुदाय को दूसरे से लड़ाती रहें। अंत में सबको एक होना पड़ेगा। भारतवर्ष के लोग जिनका देश संसार की अनेक जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों के मिलने का केन्द्र रहा है, इस सम्बन्ध में महाकवि रवीन्द्रनाथ की भविष्यवाणी सुन कर आश्वस्त हो सकते हैं—

मा'र अभिषेके ऐसो ऐसो त्वरा
मंगलघट होयेनि जे भरा,
सबार परशे पवित्र करा
तीर्थ नीरे।
आजि भारतेर महामानवेर
सागर तीरे।

सन्त कवि और रवीन्द्रनाथ

'वैष्णव कविता' में महाकवि पूछते हैं—"वैष्णव कवियों का गीत क्या बैकुण्ठ के लिये ही है ?" उन्हें विश्वास नहीं होता कि इस प्रेम सङ्गीत का कोई भौतिक आधार नहीं था। केवल देवता की कल्पना से मनुष्य के हृदय से प्रेम का ऐसा निर्झर नहीं फूट सकता। इसलिये वे फिर पूछते हैं—"यह विरह-तापित प्रेमगान तुमने कहाँ सीखा और किसकी आँखें देखकर तुमने राधा के अश्रु-विह्वल नयनों की कल्पना की ?" इसका उत्तर जो भी हो, महाकवि को इसमें सन्देह नहीं था कि वैष्णव कविता में प्रेमतत्त्व खोजकर साधारण नर-नारी उसके साथ कोई अन्याय नहीं करते। जब ये लोग देखते हैं कि उनके घर के पास से अमृत की सरिता बही जा रही है तब वे दौड़-दौड़ कर उसमें से यथाशक्ति अपने कलश भर लेते हैं।

मध्यकालीन भारत में संत कवियों की बानी अभूतपूर्व गेयता के साथ विभिन्न भाषाओं में फूट पड़ी थी। संस्कृत के वर्णिक वृत्त छोड़कर प्राकृत भाषाओं की सहज वृत्ति के अनुकूल नये-नये छन्दों, अनूठे अलंकारों से सजकर यह कविता जनता के सामने आई। दरबारी आचार्यों के लक्षण ग्रंथों का रूखापन इसे कहीं छू न गया था। सदियों के सामंती शासन की शिला के नीचे जनसाधारण को सहृदयता का जल सिमट रहा था; संतकवियों की बानी के रूप में वह अचानक फूट पड़ा और उसने समूचे भारत को रससिक्त कर दिया। रवीन्द्रनाथ पर वैष्णव कवियों का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा है। अपने निबंधों

में उन्होंने इन कवियों की बार-बार चर्चा की है। इससे भी अधिक, पुरानी कविता के छन्द, अलङ्कार, शब्द-चयन आदि-आदि का ज्ञात-अज्ञात रूप से उनकी रचनाओं पर यथेष्ट प्रभाव पड़ा है। भानुसिंह ठाकुर के नाम से उन्होंने पद भी लिख डाले थे जिनका रूप और मर्म बंगाल के वैष्णव कवियों जैसा है। एक गीत का अंतिम अंश इस प्रकार है :—

"गगन सघन अब, तिमिर मगन भव,
तड़ित चकित अति, घोर मेघ रव,
शाल ताल तरु समय तबध सब,
पंथ विजन अतिघोर,
एकलि जाओब तुझ अभिसारे,
जाको पिया तुहुँ की भय ताहारे,
भय बाधा सब अभय मूरति धरि,
पंथ देखाओब मोर।
भानुसिंह कहे, "छिये छिये राधा,
चंचल हृदय तोहारि,
माधव पहु मम पिय स मरन सें
अब तुहुँ देख बिचारि!"

इस तरह के छन्द वही लिख सकता था जिसके मनप्राण में वैष्णव कविता बिल्कुल रम गयी हो। वैष्णव कवियों में प्रेम की वास्तविक वेदना झलकती है जो रीतिकालीन परम्परा में बनावटी अलंकारों के नीचे दब गई थी। भय बाधाएँ स्वयं अभय मूर्त्ति धारण करके रास्ता दिखायेंगी. इस तरह की कल्पनाएँ चंडीदास, गोविन्ददास, ज्ञानदास आदि कवियों में

भरी पड़ी हैं। महाकवि ने इन गायकों से गेयता और मार्मिकता के साथ सौंदर्य की अनूठी कल्पनाएँ भी अपनाई हैं। गोविन्ददास ने लिखा था—

ढल ढल काँचा अंगेर लावनि
अवनि बहिया जाय।

महाकवि ने "विजयनी" के सौंदर्य का वर्णन करते हुए यौवन की तरङ्गों को लावण्य के मायामंत्र से बन्दी बना दिया है।

अंगे अंगे यौवनेर तरंग उच्छल
लावण्येर माया मंत्रे स्थिर अचंचल
बन्दी होये आछे।

इसके अलावा "गगन सघन", "तड़ित चकित", "शाल ताल" आदि शब्दों के आवर्त्त महाकवि ने अपनी काव्य सरिता में भी उठाये हैं। रामचरितमानस के पाठक जानते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास इस आवर्त्त-सौंदर्य के श्रेष्ठ पारखी थे। 'तरुण अरुण बारिज नयन' या 'केहि हेतु रानि रिसानि परसत पानि पतिहिं निवारई' आदि में यह शब्दों की लपेट देखी जा सकती है। रवीन्द्रनाथ की नाटकीय कविताओं में जहाँ स्वर उदात्त हो गया है, जैसे "भाषा ओ छन्द" में, इस तरह के आवर्त्त पंक्तियों में एक नयी गठन, एक नया बल पैदा कर देते हैं। उनके गीतों से भी कभी-कभी यह आभास मिलता है कि भाषा के थोड़े हेर-फेर से फिर कोई वैष्णव कवि गा रहा है। बड़ी कविताओं में, जहाँ वर्णन की प्रधानता है, शैली संस्कृत-बहुल हो जाती है परंतु गीतों में वैष्णव कवियों की सी ललित और सरस शब्दावली ही मिलती है। जैसे आषाढ़ पर इस गीत में :—

नील नव घने आषाढ़ गगने
तिल ठाँइ आर नाहिं रे।
ओगो आज तोरा जासूने घरेर
बाहिरे।
बादलेर धारा झरे झर झर,
आउषेर खेत जले भर भर
कालि-माखा मेघे ओ पार आंधार
घनियेछे, देख चाहिरे।
ओगो आज तोरा जासूने घरेर
बाहिरे।

इस तरह की गेयता का प्रथम परिचय वैष्णव कविता में ही मिलता है।

हिन्दी के संत कवियों पर महाकवि का एक प्रसिद्ध लेख पहले "प्रवासी" में, और फिर श्री क्षितिमोहन सेन द्वारा सम्पादित दादू-ग्रंथावली की भूमिका के रूप में, प्रकाशित हुआ है। उसमें उन्होंने साहित्य और रस, विशेष रूप से मर्मी-कवियों के रस पर बड़ी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं। अपने समय की नयी हिन्दी कविता से पुरानी संत-बानी की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि एक में कौशल ज्यादा है लेकिन दूसरी में स्वाभाविक दर्द है। कौशल तो बाहरी है लेकिन रस सत्य का ही प्रकाश है। जिस कविता में सत्य अपने सहज वेश में प्रकट होता है, वही अमर होती है और उस पर काल का दाग़ नहीं पड़ता। पुरानी बँगला कविता से हिन्दी की संत बानी की तुलना करते हुए उन्होंने बताया है कि बँगला साहित्य में ऐसी कविता थोड़ी ही है जिस के बारे प्राचीन हिन्दी कविता की तरह कहा जा सके कि वह सदा के लिये नवीन है। संत कवियों

पर श्री क्षितिमोहन सेन के कार्य का उल्लेख करते हुए उन्होंने लिखा है—"आज आमार मने संदेह नेइ जे, हिन्दी भाषाय एकदा जे गीत साहित्येर आविर्भाव होये छे, तार गलाय अमर-सभार वर माल्य।"

संत कवियों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दृष्टि डालते हुए कवि ने देखा कि उनकी बानी उस समय की सामाजिक रूढ़ियों के प्रति एक विद्रोह थी। उन्होंने लिखा है कि ये संत प्रायः सभी अंत्यज थे या समाज के निम्न वर्गों में उत्पन्न हुए थे। पंडितों के बनाये हुए शास्त्र और नियम उनके लिये कठिन थे। इस बाहरी आडम्बर को छोड़कर उन्होंने मानव हृदय की सहज प्रेम-भावना का आश्रय लिया था। महाकवि ने उन भक्तों पर व्यंग्य किया है जो ईश्वर के नाम पर एक दूसरे की जान के गाहक बन जाते हैं। मर्मी कवियों का ईश्वर सरकारी ईश्वर नहीं था। सरकारी ईश्वर के दाहिनी तरफ़ स्वर्ग है, बायीं तरफ़ नर्क। सख्त हुक्म देकर यह ईश्वर संसार पर हुकूमत करता है। उसके गौरव का प्रचार करने के लिये पृथ्वी को रक्त से भिगो दिया जाता है—"जार गौरव प्रचार करबार जन्ये पृथिवीके रक्ते भासिये दिते होय, जार नाम करे मानव समाजे एत भेद विच्छेद परस्परेर प्रति एत अवज्ञा, एत अत्याचार"—ऐसा ईश्वर हिन्दी के मर्मी कवियों का नहीं था। उन्होंने धर्म की रूढ़ियों का उल्लंघन किया था। उन्होंने अपने प्रेम के अश्रु-जल से देवता के आँगन से रक्तपात की कलङ्क रेखा धो डाली थी। इनके गीत दूर-दूर के गाँवों में एकतारे पर सुनाई देते हैं और वह तार भारतवर्ष की एकता का ही तार है। भेद बुद्धि उनके पास नहीं फटकती। समाज के कर्णधारों की अवज्ञा के बावजूद उनकी अमर वाणी आज भी सर्वत्र गूँज रही है।

भारत की साम्प्रदायिक कलह का सूत्रपात महाकवि के जीवन में ही हो गया था। यदि आज वे जीवित होते तो उनकी क्या दशा होती, यह कल्पना में भी नहीं आता। साम्प्रदायिक द्वेष, ऊँच-नीच का भेदभाव, शास्त्रों का आडम्बर, ये सब बातें उनसे कोसों दूर थीं। भारतीय समाज को जातियों और श्रेणियों में बँटा हुआ देखकर उन्हें हार्दिक क्षोभ होता था। इस विभाजन के बीच में भारत के मर्म की वाणी उन्हें हिन्दू, मुस्लिम, ब्राह्मण और अंत्यज संत कवियों में सुनाई देती थी। यह एकता की वाणी थी। महाकवि ने लिखा है कि जो भारत के श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे मनुष्यों में परस्पर भेद नहीं करते बल्कि उनके हृदयों के बीच "सेतु-निर्माण" करते हैं। हमारे समाज का बाहरी आचार परस्पर भेद और विद्वेष बढ़ाता है। इसीलिये भारत की श्रेष्ठ साधना इसी में है कि वाह्य आचार का अतिक्रमण करके हम मनुष्य के आंतरिक सत्य को स्वीकार करें। जैसे पत्थर से झरने का पानी टकराता है, वैसे ही एकता की साधना बाहरी आचार और भेद-विद्वेष से टकराती है। जिन्होंने अपने छन्दों में भारतीय जनता और मनुष्य मात्र की एकता को मुखरित किया है, वही सच्चे भारतीय हैं— "ताराइ छिलेन यथार्थ भारतीय, केन ना ताराइ बाहिरेर कोनो सुबिधा थेके नय, अंतरेर आत्मीयता थेके हिन्दूके मुसलमान के एक करे जेने छिलेन।" आजकल भारतीय संस्कृति की बात बहुत सुनाई देती है। जो लोग इस संस्कृति को केवल हिन्दुओं की बनाई हुई समझते हैं और उसकी सार्थकता इसी में समझते हैं कि मुसलमानों के प्रति घृणा पैदा की जाय, वे रवीन्द्रनाथ के इन शब्दों पर विचार करें और तय करें कि वे स्वयं कितने भारतीय हैं। यदि मध्यकाल में संत कवियों की और इस युग

में रवीन्द्रनाथ की संस्कृति भारतीय नहीं है तो भारतीय संस्कृति कहकर कोई चीज़ नहीं है। इस संस्कृति का मनुष्य के लिये यदि कोई सन्देश है तो वह यही है कि मनुष्यमात्र समान हैं और उनका परस्पर भेद, विद्वेष और विभाजन अस्वाभाविक है। (महाकवि ने लिखा है कि मर्मी कवियों को अभारतीय कहने की वही स्पर्द्धा करेगा जो पच्छिमी विद्या छोड़कर और दूसरी विद्या जानता नहीं है।) "कबीर, नानक, दादू भारतेर जे सत्य साधनाके वहन करे छिलेन, आज सेइ साधनार प्रवाह आमादेर प्राणेर क्षेत्र परित्याग करेछे। भारत चित्तेर प्रकाशेर पथ उद्घाटित होबे।" महाकवि ने यह भविष्यवाणी यों ही भावुकता के आवेश में न कर दी थी। वे जानते थे कि भेद करने वाली बातों से प्रेम और एकता की शक्ति सबल है। भारत की उदार संस्कृति कबीर, नानक और दादू जैसे संतों में प्रकट हुई है। वही संस्कृति रवीन्द्रनाथ के नये जागरण का आलोक बन गई है। हमें बार-बार इस बात पर विचार करना है कि इन महान् कवियों ने जो कुछ लिखा है, वह क्या इसलिये कि हम उनके प्यारे देश की धरती को रक्त में डुबा दें। भारतीय संस्कृति का नाम लेना और उसके सहारे हत्या, युद्ध और हिंसा की तैयारी करना भारतीयता और इन महाकवियों की वाणी का अपमान करना है।

भारतीय जनता से एकता की भावना मिट नहीं गई। सैकड़ों साल से नानक, कबीर और दादू की जो सन्तान एक साथ रहती आई है, उसे कूटनीति की तलवार इतनी जल्दी काट नहीं सकती। साधारण जनता हथियार-बन्द लुटेरों से कुछ देर के लिये आतंकित भले हो जाय, उसका हृदय अब भी वही है। आज रवीन्द्रनाथ के उन शब्दों को स्मरण करके भारतीय संस्कृति और स्वा-

धीनता आन्दोलन के उच्च आदर्शों पर हमारा विश्वास और दृढ़ हो जाता है। उन्होंने लिखा था कि सूखे मरुस्थल के नीचे जैसे जल का स्रोत बहता है, वैसे ही मर्मी कवियों की वाणी का स्रोत समाज के अगोचर स्तर में बहता है। मरुस्थल के रूखेपन को दूर करने का उपाय उसी प्राणमयी धारा में है। उस धारा को साहित्य में प्रतिष्ठित करना हमारा कर्त्तव्य है। आग को आग से नहीं बुझाया जा सकताः। एकता का रस-प्रवाह ही वर्त्तमान समाज के दग्ध प्राणों को शान्ति पहुँचा सकता है। यह कार्य यदि उस समय आवश्यक था तो आज देश की अराजकता में वह अनिवार्य है। विद्वेष और कलह की शक्तियों से हमें पुकार कर कह देना है कि तुम हिन्दुस्तान की सस्कृतिपर, चण्डीदास, विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, नानक के नामपर कलंक हो। भारत की आत्मा को यह सब सहन न होगा। जिस उदार मानवता की परम्परा के लिये सैकड़ों कवियों और सन्तों ने साधना की, वह नष्ट नहीं हो सकती क्योंकि वह देश की कोटि-कोटि जनता के हृदय में बस गयी है। आतङ्क और त्रास से हम उसे भूल रहे हैं। जिस ज्ञान के बल पर हम विश्व में अपना माथा सबसे ऊँचा समझते थे, जिस ज्ञान को व्यक्त करके रवीन्द्रनाथ ठाकुर विश्व कवि कहलाये, जो प्रेम और संवेदना नये भारत की सभी भाषाओं की समान रूप से सम्पत्ति है, उस पर साम्प्रदायिक हिंसा के जलते अङ्गारे फेंके जा रहे हैं। इस तरह संसार में देश का सिर तो नीचा होता ही है, हम खुद अपने हाथों अपनी संस्कृति, अपनी साहित्यिक परम्परा, अपने स्वाधीनता आन्दोलन का नाश कर रहे हैं। हिन्दी भाषा के जिस गीत-साहित्य के गले में रवीन्द्रनाथ के अनुसार अमर-सभा की वरमाला पड़ी थी, उसे

हम आज रक्त में भीगी हुई कटार पहना रहे हैं। इसी भारत-भूमि की यज्ञशाला में द्वेष की आहुति दे दी गई थी; उसी यज्ञशाला में दुःख की रक्तशिखा उठती है। वह दुःसह व्यथा सहनी पड़ेगी परंतु उसका भी अन्त होगा। यह भारत महा-मानव सागर जैसा पहले था, वैसा ही शान्त फिर बनेगा। 'भारततीर्थ' कविता में रवीन्द्रनाथ ने यही सब लिखा था :—

सेइ होमानले केना आजि ज्वले
दुखेर रक्त शिखा,
होबे ता सहिते मर्मे दहिते
आछे से भाग्ये लिखा।
ऐ दुख वहन करो मोर मन,
शोनो रे एकेर डाक।
जेतो लाज भय करो करो जय
अपमान दूरे जाक।
दुःसह व्यथा होये अवसान
जन्म लभिबे को विशाल प्राण!
पोहाय रजनी, जागिछे जननी
विपुल नीड़े,
एइ भारतेर महामानवेर
सागर तीरे।

जैसे रवीन्द्रनाथ के महामानव हृदय ने भारत सागर की एकता का स्वर सुना था और उसे सुनते हुए दुःख और अपमान सब सह लिया था, उसी तरह भारत की जनता अपनी एकता के स्वर को सुनती हुई इस रक्तपात और अराजकता की रात को भी काट देगी।

(२३. १०. ४७)

मध्यकालीन हिन्दी कविता में गेयता

मध्यकालीन हिन्दी कविता जितना गाई गयी है, उतना शायद किसी युग की कविता नहीं गाई गयी। उस युग से लेकर आजतक उस विराट् काव्य-साहित्य का गाया जाना बन्द नहीं हुआ। देश के उन दूर-दूर कोनों में, जहाँ हमारे आधुनिक साहित्य की पहुँच नहीं है, साधारण जनता के कंठों में सदियों से चले आते हुए ये गीत बसे हैं। इस बात के और सब पहलुओं को यदि छोड़ दें, तो भी हमारा ध्यान आकर्षित करने के लिये एक पहलू सबसे ज्यादा उभर कर आता है। आज देश के नये सांस्कृतिक जागरण के लिये हमें ऐसी वाणी, ऐसे अलङ्कार, ऐसी भाषा और ऐसी चेतना की आवश्यकता है जो एक ही तंत्र में तमाम जनता को बाँध सके। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने, विशेष रूपसे संत कवियों ने, अपनी वाणी द्वारा यह चमत्कार कर दिखाया था।

उनकी सफलता का रहस्य क्या यह माना जाय कि जनता में अंधविश्वास भरे हुए थे, इसलिये ईश्वर और धर्म के गीत उसके हृदय में बस गये। या यह माना जाय कि संत कवियों के चमीटे और गेरूए वस्त्रों को देखकर जनता उन पर मुग्ध हो गई थी और उनके शब्द दोहराने लगी थी? जनता में कौन से गीत प्रचलित हैं और कौन से नहीं, इस बात का आप पता लगायें तो यह मालूम हो जायगा कि कैसी कुशाग्र बुद्धि से जनता अच्छे-बुरे छन्दों की पहचान करती है। एक ही कवि के घटिया छन्दों को वह छोड़ देती है और उत्तम छन्दों को चुन लेती है। अनेक कवियों के अनुभव का सार लेकर वह

एक ऐसा ज्ञानकोष तैयार करती है जो अंधविश्वास से काफ़ी दूर की चीज़ है। गाँव के किसानों को आये दिन के व्यवहार में तुलसी, रहीम, सूर, गिरधर आदि की उक्तियाँ उद्धृत करते सुनिये, तो पता चलेगा कि वे साहित्यकारों के शब्दों को किस तरह अपने जीवन में परखते चलते हैं। जो साहित्य इस तरह उनके जीवन में घुल-मिल जाता है, वही टिकाऊ होता है, दूसरा नहीं।

इसलिये यह मानना पड़ेगा कि मध्यकालीन और विशेष रूप से संत कवियों की लोकप्रियता का मुख्य कारण जनता का अंधविश्वास या धर्म के प्रति आसक्ति नहीं है। यह आसक्ति मिट जायगी, अंधविश्वास दूर हो जायेंगे, फिर भी यह दावा कौन करेगा कि हिन्दी साहित्य से तुलसी, सूर, मीरा और रसखान की लोकप्रियता कम हो जायेगी? इस लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यह है कि धार्मिक ताने-बाने के बावजूद गीत का वास्तविक तथ्य धार्मिक नहीं, सामाजिक है और सामाजिक भी ऐसा जो सामंतशाही का पोषक नहीं है।

सामंतवाद ने मनुष्य के व्यक्तित्व को अनेक बंधनों में जकड़ कर उसके विकास को रोक दिया था। जाति, धर्म, सम्प्रदाय, सामाजिक आचार-विचार की शृङ्खलाओं में बँधकर मनुष्य का यह व्यक्तित्व स्वाधीन विकास के लिये तड़प उठता था। बिना इस व्यक्तित्व को स्वच्छन्दता दिये हुए, बिना मुक्त आकाश में उड़ान भरे हुए काव्य में गेयता उत्पन्न नहीं हो सकती। ब्रजभाषा काव्य में जो अभूतपूर्व गेयता उत्पन्न हुई है, उसका सबसे बड़ा कारण इसी व्यक्तित्व की सापेक्ष मुक्ति है। सापेक्ष मुक्ति इसलिये कि सामाजिक बंधनों से यह पूर्ण मुक्ति नहीं थी। प्रेम और सहानुभूति की नवीन धारा में कवि के मानस ने अवगाहन

किया था परंतु वह समाज के भीतर गहरी पैठने वाली परतंत्रता की जड़ों को निर्मूल नहीं कर सका था। इसलिये उसकी गेयता में एक अंतर्विरोध है। मुक्ति की ओर बढ़ने वाली उसकी स्वर-लहरी सामाजिक सीमाओं से बार-बार टकराती है लेकिन उनको ठेल कर बहा नहीं ले जा पाती। फिर भी वह प्रेम और सहानुभूति की धारा इतनी भरी-पूरी और वेगवान थी कि सीमाओं के रहते हुए भी साहित्य में उच्चकोटि की गेयता का जन्म हुआ।

मध्यकालीन भारत संत कवियों की वाणी द्वारा एक महान् सांस्कृतिक चेतना में बँध गया था। नानक, चण्डीदास, नरसी और तुलसीदास दूर-दूर के जनपदों की इस एकता की सूचना देते हैं। इसकी धुरी ब्रजभूमि थी जहाँ की भाषा लेकर मध्यकाल का यह विशाल साहित्य रचा गया था। उसका प्रभाव मध्यकाल में विकसित होने वाली भारत की तमाम नवीन भाषाओं पर पड़ा। यह सही है कि ये अलग-अलग जनपद एक ही सांस्कृतिक चेतना में बँधे थे परंतु यह भी सही है कि उनका स्वतंत्र विकास भी इसी समय तेजी से हो रहा था। बङ्गाल, महाराष्ट्र, गुजरात और हिन्दी प्रदेश की जातीयता निखर रही थी। जातीयता पूर्णरूप से तभी विकसित हो सकती थी जब सामंती बंधन छिन्न-भिन्न हो जाते। सामंतवाद के बने रहने से इस जातीयता (Nationality) के सहज विकास में बाधा पड़ी। मध्यकालीन यूरोप में यही क्रिया आरंभ हो चुकी थी; विभिन्न प्रदेशों की नवीन सांस्कृतिक चेतना सामंती बंधनों को छिन्न-भिन्न करती हुई एक स्पष्ट जातीय रूप ग्रहण कर रही थी। इटली में दान्ते ने देश को एक नवीन भाषा और एक नवीन साहित्य दिया। फ्रांस और इंगलैंड में वहाँ की अपनी जातीय भाषाओं और संस्कृतियों का विकास हुआ।

मध्यकालीन भारत में यही क्रम मराठी, गुजराती, बँगला आदि भाषाओं के साथ शुरू हो गया था। इस जातीयता को सबसे ज्यादा संत कवियों ने पहचाना। वे अपनी भाषा और नवीन जातीयता के निर्माता थे। इसीलिये उनके स्वर में इतनी शक्ति थी। उन्होंने साहित्य के बड़े-बड़े लक्षण ग्रन्थों को न पढ़ा था और पढ़ा था तो उनका अनुकरण न किया था। इसका कारण यह था कि जिस सांस्कृतिक सूत्र में इन लक्षण ग्रन्थों ने हिन्दुस्तान को बाँधा था, यह इन संत कवियों को अभीष्ट न था। लक्षण-ग्रन्थ दरबारों से बँधे हुए थे। उनके लेखक दरबारों में आश्रय पानेवाले लोग थे। यह दरबारी संस्कृति मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास बिल्कुल सहन न करती थी। इसके अलावा वह नवीन जातीयता की भी विरोधी थी। महाराष्ट्र, गुजरात या बङ्गाल में जो नयी जातीयता पनप रही थी, उसके पीछे वही सामाजिक शक्ति नहीं थी, जो दरबारों के रूप में प्रकट होती थी। यह नवीन जातीयता साधारण जनता और व्यापार करनेवालों का समर्थन पाती थी। दरबारी कविता की एकरसता, रूढ़ि-प्रियता और निष्प्राणता का सबसे बड़ा कारण यही था कि वह जातीयता के इस नये विकास से अलग रहकर पुरानी परिपाटी पर समाज और साहित्य को चलाना चाहती थी। इसके विपरीत संत कवियों ने, जिनके साथ जायसी, मंझन, क़ुतुबन, आदि प्रेममार्गी कवियों को भी हम ले लेते हैं, इस परिपाटी को तोड़ा।

तुलसीदास के अनेक छन्दों में यह ध्वनि मिलती है कि संस्कृत-प्रेमियों को उनका भाषा लिखना अच्छा नहीं लगता था। उनका जन्म ऐसे संधिकाल में हुआ था जब भारत की उदीयमान नयी-नयी भाषायें संस्कृति से पल्ला तोड़कर अपने

सहज प्राकृत विकास द्वारा उसके समकक्ष पहुँचने के लिये उत्सुक हो रही थीं। गोस्वामीजी ने संस्कृत की तुलना रेशमी वस्त्र से की है और हिन्दी को कामरी बताया है। काम तो कामरी ही आती है, रेशमी वस्त्र प्रदर्शन मात्र के लिये हो सकता है। इसीलिये उन्होंने लिखा था—

का भाषा, का संस्कृत, प्रेम चाहिये साँच।
काम जु आवै कामरी, का लै करै कुमाँच॥

रामचरितमानस के आरंभ में ही अनेक बार उन्होंने भाषा और संस्कृत के विवाद की ओर संकेत किया है।

"भाषा भनित भोरि मतिमोरी।
हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी।"

ये हँसनेवाले लोग संस्कृत के समर्थक थे जो अविकसित हिन्दी का उपहास करते थे। ऐसा लगता है कि गोस्वामी तुलसीदास एक महान् साहित्यकार की दृष्टि से अपनी भाषा के भावी विकास को भी देख रहे थे। इसलिये उन्होंने उन्हीं कवियों की वन्दना नहीं की जो पहले हो चुके थे, बल्कि उनकी भी जो आगे होने वाले थे। यह उदारता उस महाकवि के योग्य ही थी जिसने भरत के अपूर्व चरित्र की सृष्टि की थी।

"जे प्राकृतकवि परम सयाने।
भाषा जिन्ह हरि-चरित बखाने।
भये जे अहहिं जे होइहहिं आगे।
प्रनवौं सबहिं कपट छल त्यागे"।

नवीन जातीयता और नयी भाषा की चेतना इससे सुन्दर रूप में शायद और जगह व्यञ्जित नहीं हुई। बार-बार अपने टाट-पटोर का उन्हें ध्यान हो आता था लेकिन अपनी सिलाई पर भी उन्हें विश्वास था कि इसी टाट-पटोर से ही वह ऐसी

सुन्दर पोशाक तैयार करेंगे कि कुमाँचवाले सज्जन झख मारते ही रह जायें।

रामचरितमान एक प्रबंध काव्य है, फिर भी वह खूब गाया गया है। इसका कारण भक्तों की अंधश्रद्धा नहीं है। वास्तव में गेयता के गुण इस महाकाव्य में ही वर्त्तमान हैं। गोस्वामी जी का कलाकार कविता के सहज-प्रवाह को भली-भाँति समझता था। वे काव्यसृष्टि को एक स्वाभाविक उद्रेक के रूप में देखते थे। मानसिक संतुलन और उल्लास से यह काव्य उत्पन्न होता था। लक्षण-ग्रन्थ-रचियता कवियों के प्रति उन्हें तनिक भी आस्था नहीं थी और 'सिरधुनि गिरा लागि पछिताना' कहकर राजाओं के चाटुकार कवियों की उन्होंने निन्दा की थी। "संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी।" यहाँ पर उल्लास से कविता उत्पन्न होने की बात स्पष्ट कही गयी है। और भी—

"भयउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू।
चली सुभग कविता सरिता सो। रामविमल-जस-जल-भरिता सो।"

किस रोमाण्टिक कवि ने अपने उच्छ्वास और कविता के सहज-प्रवाह को ऐसी सुन्दर व्यञ्जना दी है? और यह कोई गर्वोक्ति भी नहीं है। तुलसीदास का आनंद, उछाह, प्रेम का उमँगता हुआ प्रवाह सब कुछ उनकी काव्य-सरिता में भली-भाँति दिखाई देता है। वे एक कलाकार हैं जो इस काव्य सरिता में उपमाओं का बीचि-विलास देखते हैं। अपनी चौपाइयों को 'सघन पुरइन' कहते हैं। छन्द, सोरठा, सुन्दर दोहा—ये सब कमलों के समान हैं। इनसे जो अर्थ निकलता है, वही पराग और मकरन्द हैं। श्रद्धा वसन्त ऋतु बन कर आती है और उस समय इस काव्य भागीरथी के किनारे श्रोताओं की अमराई

नये बौरों से महक उठती है। गोस्वामी तुलसीदास में अवध की सुन्दर प्रकृति के नानारूपों की कैसी गहरी छाप पड़ी थी, यह एक अमराई शब्द के प्रयोग से ही सिद्ध हो जाता है। उनकी गेयता का यही आधार है—अवध की सुन्दर प्रकृति, वहाँ के सुन्दर देशज शब्द, गाँव के मनोहर लगने वाले आचार-विचार जिन्हें उमा और सीता की देवोपासना में महाकवि ने अंकित किया है। जिस काव्य-सरिता का उल्लेख उन्होंने महाकाव्य के आरंभ में किया है, उसी के अनुकूल उन्होंने गेयता और कविता के सहज-प्रवाह की आगे रक्षा भी की है। इसका चरम उत्कर्ष अयोध्याकाण्ड में मिलता है जब भरत सूनी अयोध्या में लौटकर आते हैं और इस सन्देह का सामना करते हैं कि उन्हीं के संकेत से राम को वन भेजा गया है—

"राम बिरोधी हृदय तें, प्रगट कीन्ह बिधि मोहिं।
मो समान को पातकी, बादि कहौं कछु तोहिं॥"

प्रेम और सहानुभूति के प्रसङ्गों में रामचरितमानस की गेयता बार बार एक ऐसे ऊँचे स्तर तक पहुँच जाती है, जहाँ अन्य वर्णनात्मक अंशों की पहुँच नहीं है। पुष्प-वाटिका में सीता का प्रथम दर्शन, कैकेयी का रोष और दशरथ का असमंजस, सीता की वन चलने की उत्कण्ठा, भरत का चित्रकूट गमन, सीता-हरण और भरत-मिलाप, ये ऐसे प्रसङ्ग हैं जहाँ गोस्वामी जी के हृदय की करुणा और सहानुभूति के पूर्ण उद्रेक की गुंजाइश थी। इसीलिये अन्य स्थल इनकी तुलना में नहीं टिकते। गोस्वामीजी के अन्य काव्य-गुण—प्रबंध-निर्माण, चरित्र-चित्रण आदि—इस गेयता के सामने फीके ठहरते हैं। और इस गेयता का आधार वह मानवीय करुणा और सहानुभूति है जो व्यक्तित्व के विकास का एक मात्र साधन दिखाई देती थी।

गेयता ने छन्दों के प्रयोग पर भी प्रभाव डाला है। दोहा और चौपाइयों में स्वर का उतार-चढ़ाव देखते ही बनता है। चौपाइयाँ एक दूसरे से गुँथी हुई हैं और उनकी रचना उस रीति-कालीन परिपाटी पर नहीं हुइ जिसमें प्रत्येक छन्द के बाद कवि दर्शकों से वाह-वाही की आशा करने लगता है। साधारण दोहों में भी—विशेष रूप से चातक-सम्बन्धी दोहों में—उन्होंने प्रेम को उदात्त अभिव्यक्ति दी है।

"सुनरे तुलसीदास, प्यास पपीहा प्रेम की।
परिहरि चारिउ माँस, जो अँचवै जल स्वाँति को॥"

इसके अलावा बरवै छन्द में उन्होंने अपने हृदय की रागात्मक वृत्ति को बिना किसी सामाजिक निषेध के प्रकट होने दिया है। "बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ। ये अँखियाँ दोउ बैरिनि देहि बुझाइ।" यह एक श्रेष्ठ गायक का स्वर है। अलङ्कारों का यहाँ अद्‌भुत प्रयोग हुआ है। चाँदनी से यह कहना कि यह रात नहीं घाम है और "जगत जरत अस लाग मोहिं बिनु राम" अनूठी कल्पना है। अनूठापन तो और कवियों में भी है लेकिन ऐसी मार्मिकता उनमें नहीं है।

"उठी सखी हँसि मिसकरि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भये उनींदे नैन॥"

ऐसी पंक्तियाँ पढ़कर कौन कह सकता है कि तुलसीदास का व्यक्तित्व एक संसार-त्यागी, पलायनवादी कवि का व्यक्तित्व था? मध्यकालीन कवियों में गोस्वामी तुलसीदास ही ऐसे कवि हैं जिनका व्यक्तित्व कविता में उभर कर ही नहीं आता बल्कि उस पर छा जाता है। वे "विंध्य के बासी उदासी" तपस्वियों का परिहास करते हैं कि वे "बिनुनारि दुखारे" हैं। दूसरी तरफ़ मैं राम का भक्त किसी मनुष्य को सिर नहीं झुकाऊँगा,—यह

मनुष्यत्व को उठाने वाली गौरव-भावना उनके छन्दों में बार-बार फूट पड़ती है। "धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जुलहा कहौ कोऊ" आदि पंक्तियों में उनका यह विकट चुनौती का स्वर सुनाई पड़ता है। परंतु उन्होंने समाज में बहुत कष्ट सहा था। बचपन का जीवन सिद्धि-प्राप्त कवि को बार-बार याद आता था। "विनय-पत्रिका" और "कवितावली" में तुलसीदास के दो चित्र मिलते हैं। एक तो वह जो बाहु-पीड़ा से क्षुब्ध था, काशी निवासियों को महामारी से त्रस्त होकर प्राण गँवाते देखता था और अंत काल में सहारे के लिये बार-बार अपने देवता से उत्कट आत्म-निवेदन करता था। दूसरा चित्र उस तुलसीदास का है जिसने बचपन में दर-दर ठोकरें खाई हैं, जिसे समाज ने कभी सम्मान नहीं दिया और जो केवल देवत्व और उससे अधिक अपने मनुष्यत्व में विश्वास करके दूसरों को चुनौती देता रहा था। बचपन और प्रौढ़ता के बीच के तुलसीदास हमें दिखाई नहीं देते। उनका भ्रमण, साहित्य की साधना, हृदय के अन्य द्वन्द जैसे सिद्धि प्राप्त होने पर तिरोहित हो गये हैं। परंतु बचपन का वह कष्ट और प्रौढ़ता के समय भी पण्डितों की अवज्ञा उन्हें नहीं भूली। तुलसीदास का वह व्यक्तित्व जिसमें व्यंग्य और हास्यप्रियता के साथ अथाह करुणा और सहानुभूति है, उनकी गेयता का अटूट स्रोत है। उसी स्वान्त: से मध्यकालीन बंधनों में जकड़े हुए मनुष्य ने अपनी अभिव्यक्ति का एक नया सन्देश पाया था।

तुलसीदास को छोड़कर दूसरे मध्यकालीन कवियों की गेयता पदों और गीतों में अधिक प्रकट हुई है। सूरदास ने पद रचने में सब को पीछे छोड़ दिया है। गोस्वामी तुलसीदास से भिन्न उनका व्यक्तित्व एक दूसरे रूप में प्रकट हुआ है और वह है तन्मयता।

सूरदास का व्यक्तित्व ढूँढ़ना हो तो उसे यशोदा और गोपियों के रूप में ढूँढ़ना होगा। सभी लोग जानते हैं, सूरसागर के पदों का आधार क्या है। परंतु जिस तरह राम की कथा तुलसीदास के हाथों में क्या से क्या हो गई है, उसी तरह सूर के हाथों में भागवत के श्लोक बिल्कुल बदल कर एक नया गीतात्मक रूप ले चुके हैं। भागवत तो एक संकेत भर के लिये है; गीतों का रक्तमांस सूरदास का अपना है।

सूरदास की गीतात्मकता साधारण जीवन के सामान्य शब्दों में प्रकट हुई है। 'मधुकर' शब्द तमाम कवियों की रचनाओं में आ चुका है। इसी तरह 'श्याम' 'चोर' और 'हमारा' शब्दों में भी कोई ख़ास कवित्व नहीं है। परंतु 'मधुकर श्याम हमारे चोर' के शब्द चयन में सूर ने एक अनूठी व्यञ्जना पैदा कर दी है। 'हमारे चोर' का प्रयोग एक नया साहसपूर्ण प्रयोग है जिसके लिये साहित्य में कोई परिपाटी नहीं थी। यह कहना कि सूरदास प्रचलित ब्रजभाषा के जानकार थे, उनके लिये कोई बड़ी बात कहना नहीं है। परंतु रीतिकाल और उत्तर रीतिकाल के जिन सैकड़ों कवियों ने ब्रजभाषा में कविता लिखने का साहस किया है, क्या उनके लिये भी कहा जा सकता है कि वे ब्रजभाषा के जानकार थे? रीतिकालीन कवियों के हाथ में पड़कर ब्रजभाषा पुस्तकों से सीखी जाने वाली अर्द्ध-शास्त्रीय कृत्रिम भाषा रह गई। सूरदास की भाषा का आधार वह बोल-चाल की ब्रजभाषा है जिसमें आज भी अपूर्व व्यञ्जना शक्ति विद्यमान है। सूरदास ने इसी को अपना आधार मानकर परिपाटी का ध्यान न रखकर कविता के लिये सहज स्वाभाविक शब्दावली का प्रयोग किया है।

निरालाजी ने अपने गीतों के बारे में जो लेख लिखा था,

उसमें उन्होंने ब्रजभाषा और संस्कृत की प्रकृति का विवेचन भी किया था। 'श' 'ण' 'व' 'ल' ध्वनियों को लेकर उन्होंने बताया था कि ये ब्रजभाषा की प्रकृति के अनुकूल नहीं हैं। 'ल' और 'व' तो कोमल ध्वनियाँ हैं और वे बार-बार मध्यकालीन कवियों की पंक्तियों में मिलेंगी। परंतु 'श' और 'ण' अवश्य उनके प्रतिकूल हैं। 'स्पर्श' और 'परस' का सा अंतर बार-बार देखने को मिलता है। तद्भव शब्दों का जैसा सुन्दर प्रयोग सूरदास और उनके साथ कुछ अन्य बड़े कवियों ने किया है, वैसा सुन्दर प्रयोग उनका फिर कम हुआ है। ब्रजभाषा का जीवित रूप देखना हो तो आधुनिक काल में ब्रज के जनगीतों की ओर ध्यान देना होगा या फिर सूर के पदों की ओर। कुँवर, मैया, सौंह, खरिक, नँदराइ, सुढार, पुहुप, रिस, छमासी, करवत, भैया, कन्हैया, लला, बधैया, अरबराइ, आदि शब्द सूरदास के चार-पाँच पदों में ही आये हैं। इनमें एक भी ऐसा शब्द नहीं है जो ब्रज का होते हुए अवधी में भी न प्रयुक्त होता हो। यह इस बात का प्रमाण है कि जनसाधारण की भाषा में तद्भव और देशज शब्दों की एक बहुत बड़ी समानता और एकता है जो संस्कृत के स्तर पर पाई जाने वाली समानता से बहुत भिन्न है।

सूर ने कुछ कूट पद भी लिखे हैं। बहुत से पद ऐसे भी हैं जो वर्णनात्मक होकर ही रह गये हैं और जिनमें रस का उद्रेक नहीं हो पाया। यह बात तो और बड़े कवियों में भी मिलती है। परंतु उनके श्रेष्ठ गीतों में, जिनकी संख्या बहुत बड़ी है, नाटकीयता और गेयता का जो अद्भुत सम्मिश्रण सूर ने कर दिखाया है वह अन्यत्र दुर्लभ है।

"देखन दै पिय मदन गोपालहिं।

हा-हा हो पिया पालागत हौं जादू सुनौं बनघेनु रसालहिं।"

यहाँ पर गीत का उठान ऐसे नाटकीय ढंग से हुआ है जो पाठक में सहानुभूति के साथ आश्चर्य भी पैदा करता है। गोपी की आतुरता, उसकी विवशता, पारिवारिक जीवन की पराधीनता, परस्पर विरोधी भावों ने उसके हृदय को झकझोर दिया है। दूसरी पंक्ति के "हा-हा हो पिया पा लागत हौं" के टुकड़े में गोपी के माध्यम से सूर ने मध्यकालीन नारी की विवशता का चित्रण किया है। इसके बाद वाली पंक्ति में जब वह कहती है—"लकुट लिये काहे को त्रासत", तो यह चित्र और भी पूर्ण बन जाता है। उसका मन तो पहले ही कृष्ण के पास पहुँच गया है, अब प्राण भी वहीं जाना चाहते हैं। नारी पुरुष पर अभियोग लगाती है: तू अपने स्वार्थ-सुख के लिये मेरी खाल लेकर क्या करेगा? जीवन की विषमता की यह जानकारी, पराधीन नारी से यह सहानुभूति सूर की तल्लीनता और उनकी मर्म-स्पर्शिता का रहस्य है। रीतिकालीन कवियों ने इन्हीं राधा और कृष्ण के सम्बंध को एक शास्त्र-सम्मत मानसिक व्यभिचार का रूप दे दिया था क्योंकि उनके हृदय में उस सहानुभूति का अभाव था जिसने सूर को महाकवि बनाया था। सूर के शृंगार और देव और बिहारी के शृङ्गार में आकाश पाताल का अंतर है। सूर की राधा एक सच्ची नारी है जिसने अपना सर्वस्व कृष्ण को अर्पित कर दिया है। उसकी तमाम क्रियायें कहीं भी यह आभास नहीं देतीं कि वह प्रेम के नैतिक धरातल से नीचे गिरी है। उसकी एकाग्रता और तन्मयता समाज की कृत्रिम नैतिकता को तोड़ कर उस वास्तविक नैतिकता को सामने लाती है जो मनुष्य के व्यक्तित्व को विकसित करके उसके चरित्र को महान् बनाती है।

कृष्ण के वियोग में गोपियों की जो दशा हुई, उसने उनके प्रेम की सचाई को और भी निखार दिया। एक पंक्ति में ही सामाजिक आचार-विचार और मानवी सहानुभूति के द्वन्द्व को सूर ने प्रकट कर दिया। "योग समीर धीर नहिं डोलत रूप डार ढिग लागी।" रूप की कहीं निन्दा नहीं की गई और न उसे इसीलिये ऊँचा बताया गया है कि वह देवता का रूप है। इस रूप से मनुष्य की कोमलतम भावनाओं का सम्बन्ध है, इसीलिये वह इतना आकर्षक है और गीत में ऐसे संगीत की सृष्टि करता है। "नैना अब लागे पछितान", "बिनु गुपाल बैरिनि भई कुंजें" "निसिदिन बरखत नैन हमारे" "दरस बिन दूखन लागे नैन", "अँखियाँ हरि दरसन को प्यासी", "बहुरि-बन बोलन लागे मोर"—आदि गीतों में स्वतः स्फुरित गेयता देखते ही बनती है। कई शताब्दियों से जन-साधारण ने इन्हें गा-गा कर यह सिद्ध कर दिया है कि पुराने प्रतीकों के बावजूद जो बात कही गई है, वह धार्मिक या आध्यात्मिक स्तर की नहीं वरन् मनुष्य के व्यवहार-जगत् की है।

मध्यकालीन निषेधों के प्रति नारी का प्रबल विद्रोह मीरा के पदों में मिलतों है। उनमें एक ऐसा उद्वेग है जो धैर्य रखने में असमर्थ है और जो कृत्रिम नैतिकता की सीमाओं को एकबारगी ही तोड़ देना चाहता है। "मीरा गिरधर हाथ बिकानी लोग कहै बिगड़ी।" द्वन्द्व की सृष्टि वहीं से होती है। नारी गृहलक्ष्मी थी, उमा और सरस्वती का अवतार थी। परंतु यह तभी तक जब तक वह अपनी इच्छा से किसी को अपना हृदय समर्पित करना न चाहे। किसी के हाथ बिकने की कल्पना करते ही समाज की दृष्ट में वह बिगड़ जाती थी। लेकिन मीरा ने हृदय की किस सरलता से कहा है—"अली री मेरे

नैनन बान पड़ी।" नैनों की इस बान को त्याज्य न बनाकर मीरा ने मध्यकालीन समाज के विवश प्रेमी-हृदय को आश्वासन दिया। मीरा में सरलता है परंतु उसके साथ एक चुनौती भी है। "तेरा कोई नहीं रोकनहार मगन होय मीरा चली"—इस तरह की पंक्तियाँ सामाजिक विरोध से टक्कर लेकर निकली हैं; ऐसी बात नहीं है कि रोकनेवालों को मीरा ने कल्पित कर लिया हो और इस तरह अपने गीत को एक नाटकीय पुट दे दिया हो। चुनौती के साथ जहाँ-तहाँ नैतिकता के बन्धनों से पैदा होने वाली वेदना का आभास भी मिलता है, "सखी री लाज बैरिन भई"। ये नैतिक बन्धन जितने कठोर हैं, हृदय में प्रेम की प्यास उतनी ही तीव्र हो उठती है। मध्यकालीन नारी की इस सहज उत्कण्ठा को मीरा से अधिक किसने व्यक्त किया है—

"ऐसे पिया जान न दीजै हो।
चलो री सखी मिलि राखिकै नैना रस पीजै हो।"

यदि यह उत्कण्ठा इस निर्बन्ध रूप में प्रकट न होती तो मीरा के पदों में वह गेयता भी न आ पाती जिसने डगर की भिखारिन मीरा को भारतीय काव्य साहित्य के सिंहासन पर बिठा दिया।

मध्यकालीन भारत में आलम, रसखान, रहीम आदि मुसलमान कवियों ने प्रेम कविता की इस परम्परा को ऐसे अपना लिया कि हिन्दी साहित्य से अब उन्हें कोई प्रयास करके भी नहीं निकाल सकता। इसका कारण यह नहीं था कि उन्हें मुसलमान देवता अच्छे न लगते थे और हिन्दू देवताओं से मोह हो गया था। देवता जब तक मानवीय गुणों से दूर रह कर अपने देवत्व पर घमण्ड किये बैठे रहते हैं, तब तक कवि

उनकी बात नहीं पूछता। जब वे मानवीय गुणों और अवगुणों के भी प्रतीक बनकर कवि कल्पना में आते हैं, तभी साहित्य में उनकी प्रतिष्ठा होती है। प्रेम की इस परम्परा में हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल हुए, इसका कारण यह था कि मध्यकालीन भारत में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही समाज भयानक निषेधों से पीड़ित थे। दोनों समाजों के श्रेष्ठ गायक प्रेम की भूमि पर एक दूसरे से मिलने-जुलने के लिये उत्सुक थे। यह उत्सुकता रहीम, रसखान और जायसी जैसे लोगों को इस ओर खींच लाई। जायसी के प्रतीक दूसरे हैं, रसखान के दूसरे हैं परंतु दोनों की भावभूमि एक है।

रसखान ने अपने बारे में लिखा है—

"देखि गदरहित साहिबी, दिल्ली नगर मसान।
छिनहिं बादसा बंस की, ठसक छाँड़ि रसखान॥
.तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहिनी मान।
प्रेमदेवकी छबिहिं लखि, भये मियाँ रसखान॥"

ये पंक्तियाँ बताती हैं कि अपने मानस की मुक्ति के लिये "बादसा बंस की ठसक" छोड़ना रसखान के लिये क्यों आवश्यक हुआ। "प्रेमदेव की छबि" देखते ही वह बदल कर रसखान बन गये। जब मीरा और तुलसी पर लोग उँगली उठा सकते थे तो इसकी कल्पना की जा सकती है कि रसखान जैसे कवियों ने प्रेमदेव की उपासना करके मुस्लिम समाज में कितना विरोध सहन किया होगा। इसके लिये जीवट और सच्ची मनुष्यता की जरूरत थी। मध्यकालीन मुसलमान कवियों में ये दोनों बातें थीं जिनके बलपर उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों का एक अटूट सांस्कृतिक भाई-चारा स्थापित किया था। यदि कोई कहे कि आज के हिन्दुस्तान में रसखान कहाँ है तो उससे

पूछा जा सकता है, आज के हिन्दुस्तान में सूर कहाँ है? जो लोग अपने को सूर और मीरा की संतान कह कर गर्व से माथा ऊँचा करते हैं, वे अपने हृदय में देखें कि उन गीतकारों की ममता और सहानुभूति के बदले वहाँ द्वेष और कट्टरता तो नहीं भर गयी। लेकिन वास्तव में सूर और रसखान की परम्परा आज भी मिटी नहीं है। पिछले बीस साल में भारत और भारतीयता पर जो रचनायें मुसलमान कवियों ने की हैं, वे उन्हें भारत का कवि कहलाने का अधिकार दे चुकी हैं। जो हिन्दू कवि अपनी भारतीयता का दम्भ करता हो और उस भारतीयता में मुसलमान के लिये जगह न मानता हो, वह एक बार "जोश" मलीहाबादी, "साग़र" निज़ामी, "कैफ़ी" आज़मी और अली सर्दार जाफ़री की रचनायें पढ़े और देखे कि देश की पराधीनता और ग़रीबी से क्या उसका हृदय भी इतने तीव्र रूप से आन्दोलित हुआ है?

मध्यकाल में यह आदान प्रदान एकतरफ़ा नहीं था। हिन्दी के आलोचक मध्यकालीन कविता का ज़िक्र करते हुए इस बात पर उचित गर्व प्रकट करते हैं कि हिन्दी काव्य की उदार परम्परा ने मुसलमानों को आकर्षित किया था। परंतु वे यह बात भी इतनी स्पष्टता से नहीं कहते कि स्वयं हिन्दी कवियों ने बिना किसी निषेध भावना के फ़ारसी और अरबी के नये-नये शब्दों, सूफ़ियों के विचारों और कहीं-कहीं उनके प्रतीकों को भी ग्रहण कर लिया था। आधुनिक युग में एक तीव्र निषेध-भावना अधिकांश साहित्यकारों में घर कर गयी है। हमने कुछ शब्दों को अपने हृदय में म्लेच्छ मान लिया है और जैसे अपने समाज से मुसलमानों को दूर रखते हैं; वैसे ही उन्हें भी साहित्य से दूर रखने का विफल प्रयास करते हैं। विफल

प्रयास इसलिये कि गाँवों की कोटि-कोटि जनता, जो हमारी भाषा की वास्तविक जन्मदात्री है, हिन्दू-मुसलमान शब्दों का विवेक नहीं करती। तुलसीदास ने जो उदारता—"माँगिकै खैबो, मसीत को सोइबो" लिखकर, या 'साहिब" "गरीब नेवाज" जैसे पचीसों शब्दों के प्रयोग में दिखाई थी, वह उदारता इस युग के कवियों में कम देखने को मिलती हैं। यह ध्यान देने की बात है कि निषेध भावना एक बार फ़ारसी शब्दों से आरम्भ होकर वहीं समाप्त नहीं होती, वरन् अनेक तद्भव और देशज शब्दों के वहिष्कार की ओर भी खींच ले जाती है। हिन्दी को शुद्ध रखने के पक्षपाती साहित्यकार ग्रामीण भाषाओं के प्रचलित शब्दों को दूर रख कर संस्कृत-बहुल अस्वाभाविक शब्द-चयन की ओर ही दौड़ते हैं। मध्यकालीन हिन्दी कवियों ने ग्रामीण शब्द और फ़ारसी के नये शब्द जो जहाँ मोक़े से मिल गया, उसी को अपना लिया था। नागरीदास ने लिखा था—

इश्क़ चमन महबूब का, जहाँ न जावै कोय।
जावै सो जीवै नहीं, जियै सो बौरा होय॥

इस दोहे में यह बात साफ़ झलकती है कि फ़ारसी के प्रचलित शब्द हिन्दी के ठेठ शब्दों के साथ ऐसे बैठाये जा सकते हैं कि हिन्दी के 'हिन्दीपन' पर ज़रा भी आँच न आये, बल्कि वह और भी निखर उठे। इसी तरह मुबारक ने लिखा था—

अलक मुबारक तिय बदन, लटकि परी यों साफ़।
खुसनवीस मुंसी मदन, लिख्यौ काँच पर 'काफ़'॥

यहाँ पर 'साफ़' और 'क़ाफ़' के प्रयोग से मुबारक ने कोई ऐसा काम नहीं किया जिसके लिये उन्हें माफ़ न किया जा सके। बोधा के छन्द में सुभान का रङ्ग देखिये—

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।

....

जान मिलै तो जहान मिलै नहिं जान मिलै तो जहान कहाँ को।

जो आदमी 'सुभान के आनन पर' सारे जहान को 'कुरबान' करने पर तुला है, वह भला शब्दों की जाति-पाँति कब पूछने बैठेगा ? कबीर कहते हैं—

आये ढोल बजावत बाजन, बनरी ढाँप रही मुख लाजन।
खोल घुँघट मुख देखैगा साजन।
सिर सोहै सेहरा, हाथ सोहै कँगना,
झूमतं आवै बन्ना मेरे अँगना।

हिन्दुस्तान में, विशेष रूप से संयुक्त प्रान्त में, अब भी लाखों हिन्दू मुसलमान ऐसे हैं जिनके घरों में विवाह आदि अवसरों पर एक से ही गीत गाये जाते हैं। जिन मेवों और जाटों को उकसाकर भयानक हत्याकांड किये गये हैं, उनके यहाँ एकाध रस्म छोड़ कर बाक़ी सभी बातें, एक दूसरे से मिलती-जुलती होती हैं। जनता के इन मिले-जुले गीतों की भूमि पर कबीर ने अपने पदों की रचना की थी। यह पुष्ट आधार मिलने पर ही उनमें यह साहस हुआ कि हिन्दुओं और मुसलमानों के अंधविश्वासों को वे एक साथ चुनौती दे सके। एक समाज में ही रह कर नैतिकता के ठेकेदारों का विरोध करना कठिन हो जाता है। कबीर ने तो दोनों को चुनौती दी थी और ऐसी खरी चुनौती दी थी कि आज तो उसे दुहराने के लिये भी हाथ भर का कलेजा चाहिये। लोग कहते हैं, कबीर केवल ध्वंसात्मक कवि थे। उन्होंने समाज का कोई ढाँचा सामने नहीं रक्खा। हम जनगीतों और साधारण जनता की उन मिली-जुली

परम्पराओं को भूल जाते हैं, जो कबीर के गीतों का आधार हैं, तभी इस तरह की बातें कहते हैं। कबीर जाति प्रथा और धार्मिक भेद भाव दोनों के ही विरोधी थे। लेकिन क्या यह समझते देर लगती है कि इन बंधनों को तोड़कर उन्होंने मनुष्य को उसके सच्चे रूप में प्रतिष्ठित करना ही अपनी कविता का लक्ष्य बनाया है? मानवता की यह प्रतिष्ठा अन्य कवियों ने अपने ढङ्ग से की है, कबीर ने अपने ढङ्ग से। रहीम कहते हैं—

कहा करौं बैकुण्ठ लै, कल्प वृच्छ की छाँह।
रहिमन ढाक सुहावनो, जो पीतम गल बाँह॥

सामाजिक निषेध के परे प्रेम की प्रतिष्ठा सूर और रसखान आदि का मार्ग है। कबीर ने सीधा आक्रमण किया, निषेधों का खंडन किया और निर्गुण सत्ता की उपासना द्वारा मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा की। लक्ष्य दोनों का एक ही था।

मध्यकालीन हिन्दी कविता एक विशाल सागर है जिसकी सबसे बड़ी तरंगें संत कवियों की बानी हैं। इस सागर की सीमाएँ हैं, लहरों में परस्पर विरोध भी है, फिर भी हिन्दी भाषा के उस स्वर्ण युग में इन कवियों ने प्रेम और सहानुभूति की स्थापना करके सामाजिक बन्धनों से मनुष्य को मुक्ति दी। यही उनकी गेयता का सबसे बड़ा आधार है जो आज भी उनकी रचनाओं को लोकप्रिय बनाये हुए है।

(सितम्बर, १९४७)

रस सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य

अपनी नई पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' के बारे में बाबू गुलाबराय कहते हैं—"मेरे सामने यह समस्या थी कि मैं निबंधों में अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को महत्ता दूँ या शास्त्रीय दृष्टिकोण को। मैंने शास्त्रीय दृष्टिकोण के सहारे ही अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करना चाहा है। अपने दृष्टिकोण की सविस्तर व्याख्या कर विद्यार्थियों को अपने पूर्वजों के ज्ञान से वंचित रखना मैंने उचित नहीं समझा है।" इस पुस्तक में उन्होंने शास्त्रीय आधार पर साहित्य की व्याख्या की है और जहाँ-तहाँ पश्छिम के वैज्ञानिकों और विचारकों का उल्लेख किया है। कई स्थलों पर मालूम होता है कि पुराने पैमाने से नये साहित्य की नाप-जोख करना उनके लिये मुश्किल हो रहा है। फिर भी वह पुराना पैमाना छोड़ने के लिये तैयार नहीं हैं, भले ही उसे काम में लाने के लिये नापी जाने वाली चीजों में ही कतर-व्योंत करनी पड़े।

साहित्यरत्न और एम० ए० के विद्यार्थियों को रस-निष्पत्ति, साधारणीकरण, ध्वनि और उसके भेद आदि की जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, बाबूजी उनसे अच्छी तरह परिचित हैं। गागर में सागर उँडेलने की कला में उनसे बढ़कर दूसरा नहीं है। हिन्दी साहित्य के विशाल इतिहास को उन्होंने कम से कम पृष्ठों में यों बाँध दिया है कि विद्यार्थी उसे बड़ी सरलता से हृदयंगम कर सकता है। लेकिन इस बात को भी सभी लोग जानते हैं कि वे सङ्कलनकर्त्ता मात्र नहीं हैं; वे एक महान् कलाकार भी हैं जिनकी प्रतिभा उनके व्यक्तिगत

निबंधों (personal essays) में प्रकट हुई है। उनकी आलोचना विद्यार्थियों के लिये उपयोगी है परंतु निबंधों का कलात्मक मूल्य है। यद्यपि बाबूजी साहित्य में उपयोगितावाद का विरोध करते हैं, फिर भी विद्यार्थियों का हित करके अपने आचरण से वह उसी का समर्थन करते हैं। मैं उनके निबंधों के कलात्मक सौंदर्य का पक्षपाती हूँ। उनका हास्य और व्यंग्य उनकी आलोचनाओं में भी जहाँ-तहाँ खिल उठता है। लेकिन वह शास्त्रीय अध्ययन के बोझ से दबा हुआ है। जैसा कि उन्होंने भूमिका में बताया है, पूर्वजों में श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अपनी बात पूरी न कह कर शास्त्रों की बात दुहराना ही ज्यादा अच्छा समझा है।

'काव्य की आत्मा' नाम के पहले अध्याय ने उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सम्प्रदायों की व्याख्या करते हुए काव्य की आत्मा पर प्रकाश डाला है। "साहित्य मुर्दा दिलों में नई जान फूँक देता है, इसलिये वह आयुर्वेदिक रस का काम भी करता है। काव्य का सार है, इसलिये वह फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। आनन्द उसका निजी रूप है, इसलिये वह परमार्थ है, स्वयं प्रकाश्य, चिन्मय, अखंड, ब्रह्मानन्द सहोदर है।" रस और मनोविज्ञान के सिलसिले में मैक्डूगल, विलियम जेम्स आदि के मत उद्धृत करके बाबूजी ने प्राचीन आचार्यों का समर्थन किया है। रस ग्रंथों में कहे हुए अनुभवों से डारविन के बताये हुए अनुभवों का मिलान करके वह दावा करते हैं कि "इस विषय में हमारे आचार्य आधुनिक वैज्ञानिकों से क़दम मिलाते हुए चल सकते हैं।" आधुनिक वैज्ञानिक हर जगह 'वैज्ञानिक' ही हैं, यह कहना कठिन है, खास तौर से विलियम जेम्स और मैकडूगल के

लिये। पच्छिम का विज्ञान जहाँ तक वैज्ञानिक है, उसका आधार भौतिकवाद है। बाबूजी के अनुसार भारतीय शास्त्रों का आधार सच्चिदानंदवाद है। उन्होंने कई बार इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि रस की अखंडता आनंद स्वरूप आत्मा की अखंडता की कल्पना से ही सिद्ध होती है। इसलिये हँसने-रोने का एक सा वर्णन करने से यह प्रकट नहीं होता कि प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण पच्छिम के इन मनोवैज्ञानिकों के दृष्टिकोण से मिलता जुलता है।

रसनिष्पत्ति के बारे में भट्टलोल्लट, भट्टनायक, अभिनव गुप्त आदि के मतों का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं, काव्य का रस "विभावादि द्वारा उद्‌बोधित एवं रजोगुण, तमोगुण, विमुक्त सतोगुण प्रधान आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायीभाव का आस्वाद-जन्य आनन्द है।" भले ही काव्य का रस आनन्दमय हो, इस व्याख्या के द्वारा उस तक पहुँचते-पहुँचते तो विद्यार्थियों की अखंड आत्मा भी खंड-खंड हो जायेगी। इसके बाद भी 'टाइप' और व्यक्ति का झगड़ा बाक़ी रह जाता है। पता नहीं, शास्त्रों में कहाँ से बाबूजी ने इस टाइप वाली बात को दुहराया है। 'टाइप' के लिये संस्कृत के आचार्य यदि किसी शब्द का प्रयोग करते थे तो बाबूजी ने उसका उल्लेख नहीं किया।

साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि पहले के और अब के आदर्शों में काफ़ी अंतर हो गया है। पहले नायक ऊँचे कुल का राजा या सरदार होता था और अब होरी जैसा किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। बाबूजी कहते हैं—"पहले प्रख्यात नायक इसीलिये रहता था जिससे कि सहृदय पाठकों का

सहज में तादात्म्य हो जाये। अब लोगों की मनोवृत्तियाँ कुछ बदल गई हैं, आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है। इसलिये होरी के संबन्ध में पाठकों का सहज में ही तादात्म्य हो जाता है।" मतलब यह है कि पहले आत्मा की अखंडता का अनुभव अभिजात वर्ग की गाथाओं से होता था और अब किसानों के शोषण की कथा से होता है। लेकिन रस की अखंडता में कोई अंतर नहीं आया। साधारणीकरण एक ऐसा मंत्र है जिससे शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्वप्रेम तक पहुँच जाता है। बाबूजी कहते हैं—"शृङ्गार, जो लौकिक अनुभव में विषयानंद का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रीति सात्त्विकोन्मुखी हो जाती है।" इस प्रकार कवियों को छूट दे दी गई है कि वे साहित्य में लौकिक विषयानन्द का यथेच्छ रूप से वर्णन करें। छन्दों और अलंकारों के संसर्ग से वह सहज ही परिष्कृत होकर आत्मानन्द के निकट पहुँच जायेगा। इससे कवि को ही मुक्ति न मिलेगी, वरन् उसका पढ़नेवाला भी सात्विक भावों से प्रेरित होकर ब्रह्मलोक पहुँच जायगा।

मुझे एक बार नगेन्द्रजी से होने वाली एक बहस की याद आती है। उन्होंने पूछा था, हिटलर पर एक अच्छी कविता लिखी जाय तो उसे प्रगतिशील माना जायगा या नहीं? साधारणीकरण से जरूर माना जायगा क्योंकि टाइप और व्यक्ति दोनों खत्म होकर आत्मा की अखण्डता में विलीन हो जायेंगे। साहित्य में वर्णित विषय के सामाजिक पक्ष पर विचार न करने से समाज-विरोधी भावनाओं को भी उसमें शामिल कर लिया जायगा और काव्यगत परिष्कार के बहाने उन्हें

ब्रह्मानन्द की संज्ञा तक दे डाली जायगी। इस सिद्धान्त की जो व्याख्या की गई है, वह यूरोप के उस सिद्धान्त से मिलती-जुलती है जिसे अब वहाँ भी कोई नहीं मानता। यह सिद्धान्त 'कला कला के लिये' वाला है। बाबूजी यह अवश्य चाहते हैं कि नीति की उपेक्षा न की जाय; लेकिन अगर कोई यह कहे कि सामाजिक विकास के लिये साहित्य रचना होनी चाहिए तो उससे साहित्य की चिन्मयता खतरे में पड़ जायगी। मोटे तौर से अब कला के प्रति दो धारणायें बन गई हैं। एक धारणा तो वह है जो उसे समाज को उन्नत करने का साधन मानती है और इसी में उसकी सफलता देखती है। दूसरी धारणा यह कि समाज की उन्नति या अवनति से कला को कोई सरोकार नहीं है और उसकी सिद्धि केवल आनन्द या मनोरंजन में है। बाबूजी कहते हैं—"कला से परे और किसी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट कर अंधकारमय गर्त में ढकेलना है।" यह तर्क कला-कला के सिद्धान्त से किस तरह भिन्न है? कला के ऊपर सामाजिक प्रभावों को नियामक न मानने से अंत में कला भी अराजक बन जायगी और न तो उससे समाजहित होगा और न आनन्द-लाभ ही होगा। यह बात स्मरण रखनी चाहिये कि समाज-विरोधी विषय-वस्तु के वर्णन या चित्रण से समाज के बहुसंख्यक लोग आनन्द लाभ नहीं कर सकते। अभिजात-वर्ग के जो थोड़े से लोग आनन्द लाभ करेंगे भी, वे कितने दिन तक इस आनन्द प्राप्ति के लिये जीते रहेंगें, यह संशयात्मक है। इसलिये ज्यादा अच्छा यही है कि हम बहुजन हित को कला के वर्ण्य विषय का नियामक मानें; कला अपने

विभिन्न उपादानों से इस वर्ण्य विषय को सजाकर पाठक के सामने प्रस्तुत करे और उससे हम आनन्द लाभ करें। कला से समाज की उन्नति होती है, यह मानने से इस बात का खंडन नहीं होता कि उससे हमें आनन्द भी मिलता है। सामंती और पूँजीवादी समाज में संभव है कि गिने-चुने सहृदय और रसिक-जन कला का आनन्द उन्हीं बातों में पायें जो बहुजन हितों की विरोधी हैं। परन्तु यह अनिवार्य नहीं है। वर्त्तमान युग के आलोचक को ये बातें स्पष्ट कर देनी चाहिये।

बाबूजी ने तर्क दिया है कि जब मुर्दों की चीर-फाड़ करने वाले डॉक्टर और अर्थशास्त्र के पंडित अपने लिये कला की दीक्षा आवश्यक नहीं समझते तो फिर कलाकार ही क्यों अर्थ-शास्त्रियों के यहाँ जाकर अपनी मर्यादा कम करे। वास्तव में समस्या यह नहीं है कि कला को अर्थशास्त्र बनाया जाय या अर्थ शास्त्र को कला। समस्या यह है कि कलाकार आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर क़लम उठाये या नहीं और उठाये तो किस तरह। कला कितनी भी चिन्मय और अखंड हो, वह जीवन के भौतिक दाना-पानी के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। दर्शन राजनीति, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, इन सभी से अगर वह पल्ला बचा कर चलेगी तो वह फ़रिश्तों की चीज़ भले हो जाये, उसका दुनिया से कोई संबन्ध न रहेगा। इसीलिये 'कला-कला के लिये' वाले लोग यह नहीं कहते कि वे सामाजिक प्रश्नों से दूर रहेंगे; उनका असली मतलब यह होता है कि सामाजिक प्रश्नों पर लिखते हुए उन्हें बहुजन हितों की उपेक्षा करने की पूरी आज़ादी होगी। इस तरह वे कलाकार की सामाजिक ज़िम्मेदारी को ख़त्म कर देते हैं। एक तरह से उनकी ज़िम्मेदारी समाजशास्त्री से भी ज्यादा है। कलाकार के पास रूप,

अलंकार, भाषा, छन्द की वह तलवार है जो समाजशास्त्री की कुन्द छुरी से कहीं ज्यादा काट करती है। उससे यह कहना कि तलवार चलाने की खूबसूरती पहले ह, किसका सिर कटता है, यह बाद को, समाज के प्रति अन्याय करना है। मान लीजिये, प्रेमचन्द कलाकार होने के नाते अपने उपन्यासों में किसानों के संघर्ष की तस्वीर न खींचकर किशोरीलाल गोस्वामी की तरह शृङ्गार रस से ओत-प्रोत गाथायें लिखते तो वे बाबूजी के इस वाक्य को कि "शृङ्गार की रति में एक विशेष तन्मयता रहती है" अवश्य चरितार्थ करते। परंतु हिन्दी के कथा साहित्य में उन्हें जो दर्जा मिला है, वह तब शायद किशोरीलाल गोस्वामी से ज्यादा ऊँचा न होता। राजनीतिक और सामाजिक प्रश्नों पर क़लम चलाते हुए हम अपनी सामाजिक ज़िमेदारी से बच जायँ, यह नामुमकिन है।

कुछ दिन पहले तक पच्छिम की सभी चीज़ों से हम डरते थे, उन्हें भौतिकवादी और वैज्ञानिक कह कर अपनी आध्यात्मिकता का बखान करते थे। लेकिन अब वहाँ कोई मतलब की बात मिले तो उसका हवाला देकर हम पच्छिम के भौतिकवाद से अपने अध्यात्मवाद को मिला देते हैं। 'कला कला के लिये' वाला सिद्धान्त उन्नीसवीं सदी में यूरोप के पतनोन्मुख पूँजीवादी समाज की देन है। न इसे यूरोप के विद्वानों ने और न भारत के आचार्यों ने पहले कभी माना था। लेकिन प्रगतिशील विचारधारा भारतीयता की विरोधी जान पड़ती है, यूरोप का यह सड़ा-गला सिद्धान्त भारतीयता के निकट जान पड़ता है। बाबूजी के अनुसार "वास्तव में कला-कला के अर्थ शुद्ध स्वरूप भारतीय स्वान्तः सुखाय ही में मिलता है।" यही नहीं, कला की मूल

प्रेरणाओं की खोज कीजिये तो पता चलेगा कि हमारे आचार्य वही बातें कह गये थे जो दमित इच्छाओं के विश्लेषक फ्रॉयड और युङ्ग यूरोप में कह गये हैं। "युङ्ग मेरी समझ से भारतीय दृष्टिकोण के अधिक निकट आता है।" युङ्ग की विचारधारा क्या है जिसका भारतीयता से ऐसा घनिष्ट नाता है? उसके अनुसार मनुष्य में दो भावनायें प्रधान होती हैं, एक प्रभुत्व-कामना, दूसरी कामवासना। इस हिसाब से मनुष्य के दो टाइप हुए, एक अंतर्मुखी दूसरा बहिर्मुखी; पहले वाले में कामवासना की प्रमुखता होती है और दूसरे में प्रभुत्वकामना की। बाबूजी कहते हैं कि उपनिषदों में आत्म-प्रेम को सब क्रियाओं का मूल कारण माना गया है। "कामवासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही आत्म-प्रेम के नीचे रूप हैं। दोनों में ही आत्म रक्षा की भावना ओत-प्रोत है। कामवासना भी एक प्रकार की प्रभुत्वकामना है और प्रभुत्वकामना कामवासना का बदला हुआ आत्म प्रकाशोन्मुख रूप है।" इस प्रकार बाबूजी ने साइको-एनैलिसिस और उपनिषदों का समन्वय कर डाला है। मनोविश्लेषण वाले वैज्ञानिक मनुष्य के मन, अंतर्मन और अंतर्मन के भी अंतस्तल में बहुत गहरे पैठते हैं। लेकिन वे इस बात पर जोर नहीं देते कि मनुष्य की चेतना विकासमान है, उसका विकास वातावरण और परिस्थितियों के सहारे होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है जो मिल-जुल कर रहना चाहता है, इस मिल-जुल कर रहने के क्रम में एक सामाजिक क्रिया के रूप में साहित्य की उत्पत्ति भी होती है। वह मनोविज्ञान अधूरा ही नहीं निकम्मा है जिसकी बुनियाद में मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सत्य नहीं है। ये वैज्ञानिक अपने विज्ञान का प्रकाश आत्मा की स्लाइड (Slide) पर डालते हैं मानो चेतन

और गति-शील न होकर वह काँच के टुकड़े पर जमा हुआ ख़ून का धब्बा हो। इसीलिये इनके समर्थक एक तरफ़ तो प्रभुत्व-कामना और कामवासना को जीवन की मूल प्रेरणा मान लेते हैं और दूसरी तरफ़ साहित्य में साधारणीकरण द्वारा "आत्मा के अखंड चिन्मय आनन्दमय स्वरूप की अनुभूति" भी कर लेते हैं। इसीलिये इनके विचार से कोई कलाकार ज़िन्दगी से मुँह चुराकर काल्पनिक स्वर्ग रचे, तो भी उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। बाबूजी ने "स्वस्थ पलायनवाद" का ज़िक्र किया है जिससे जीवन में शक्ति मिलती है; इसलिये कहना चाहिये कि पलायनवादी भी एक तरह से प्रगति का समर्थक होता है। इसी तरह भक्ति पर वासना की चाशनी चढ़ाई जाती है और श्रृङ्गार पर भक्ति की। बाबूजी कहते हैं—"कवि फ्रॉयड के स्वप्न-द्रष्टा की भाँति किसी अंशों में प्रतीक से काम लेता है। कभी काम-वासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी-कभी कविगण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करावेष्ठन चढ़ा कर उसको अधिक ग्राह्य बना देते हैं।" शायद भक्त लोग अपनी भक्ति पर वासना की शक्कर न चढ़ायें या शृंगारी कवि भक्ति की रामनामी न ओढ़ें तो वे कलाकार न कहलायें!

साहित्य विकासमान है और वह एक महान् सामाजिक क्रिया है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देखकर जो सिद्धान्त बनाये थे, वे आज नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जायगा या फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों से नये सहित्य की परख नहीं हो सकती। परखने की कोशिश की जायगी तो उसका जो नतीजा होगा, वह नीचे के वाक्यों से देख लीजिये :—

"यदि किसी उपन्यास में किसी कुप्रथा की बुराई है तो वह बीभत्स प्रधान माना जायगा।"

'जो बुराई शोषक के कारण शोषित में आती है तो वह करुणा का ही विषय होती है।"

"आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उनमें कौन सा रस प्रधान है; किंतु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।"

"(सेवासदन में) हिन्दू-समाज में वेश्याओं के प्रति आदर भावना है, वह बीभत्स का उदाहरण है।"

"ग़बन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियों के आभूषण-प्रेम तथा पुरुषों के वैभव-प्रदर्शन का दुष्परिणाम और पत्नी का पतिव्रत प्रेरित नैतिक साहस और सुधार भावना का उद्घाटन करना। रस की दृष्टि से हम इसे शृङ्गार रसाभास से सच्चे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना कहेंगे।"

"कुछ उक्तियाँ राजनीति से संबन्धित होने के कारण वीररस की कही जायंगी।"

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नये साहित्य पर पुराने सिद्धान्त लागू करने में काफ़ी कठिनाई होती है और इस कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है, यह एक संदेह की ही बात रह जाती है। जीवन की धारायें एक दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड़ बाँधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक़ नहीं बहाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिये युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूँढ़ने होंगे।

अपनी किताब के आख़िरी पन्ने पर बाबूजी ने मार्क्स और वर्ग-संघर्ष का भी ज़िक्र किया है।

उनका कहना है कि वर्ग-संघर्ष एक बुरी चीज है; लेकिन प्रगतिवादी उसे अपना ध्येय बना लेते हैं। निरन्तर वर्ग संघर्ष करते रहना किसी का ध्येय नहीं है, लेकिन वर्गहीन समाज की रचना वर्ग संघर्ष से मुँह चुराने से नहीं हो सकती। बाबूजी चाहते हैं कि हम ऐसे समाज में रहें, जहाँ सबसे अधिक पारस्परिक सहयोग हो। यह सहयोग तब तक संभव न होगा जब तक समाज से वर्ग-शोषण न मिटेगा। इसलिये साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं या इससे ज्यादा और गबन में शुद्ध शृङ्गार है या रसाभास। इन संचारी-व्यभिचारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामाजिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखंडता और रसके स्वयंप्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वह वर्गहीन समाज के निर्माण में कभी सहायक न हो सकेगा। इसका यह मतलब नहीं है कि जिन्दगी से रस को निकाल दिया जाय। बाबूजी की जिन्दा दिली की दाद दिये बिना नहीं रहा जाता, जब वह सूरदास के लिये कहत हैं—"इन्होंने रति की आरम्भिक अवस्था का बहुत ही मनोरम वर्णन किया है।"

(जुलाई, १९४६)

केदारनाथ अग्रवाल

'युग की गंगा' के नाम से केदारनाथ अग्रवाल की कविताओं का संग्रह छपा है। कवितायें वे काफ़ी पहले से लिखते रहे हैं लेकिन संग्रह निकलने में ज़रूरत से ज्यादा विलम्ब हो गया है। इस पुस्तक को पढ़नेवाले से यह कह देना ज़रूरी है कि बाबू केदारनाथ अग्रवाल एक पढ़े-लिखे आदमी हैं और बाँदा में वकालत करते हैं। यह इसलिये कि कविताओं को पढ़कर बहुतों को शक हो सकता है कि चना-चबैना खाने वाले चन्दू की तरह सभ्यसमाज ऐसे इनका भी सम्पर्क है या नहीं। केदारनाथ नयी पीढ़ी के उन लेखकों में से हैं जो शहर की नकली संस्कृति से ऊब गये हैं, दिखावा और बनावट से जिन्हें चिढ़ है और जिनके हृदय में अपने देश की धरती के लिये सच्चा प्यार है। अगर कविता में धरती की गंध आ सकती है, तो वह गंध केदार की कविताओं में आती है।

अवध की धरती और उस पर लहराते हुए अन्न के पौधे, फल-फूल, वनस्पतियाँ और नीले आसमान में चमकते हुए चाँद तारे कविता के छन्द, ध्वनि और लय में रम गये हैं। इन कविताओं में एक ऐसा ठेठपन है जो बहुत माँजे-सँवारे न जाने के कारण भी इतना आकर्षक बन गया है। किसी को बहुत जल्दी कविता पढ़ते सुन कर एक बिगड़े दिल शायर कह उठे थे—क्यों जनाब, आपको शेर कहने में मेहनत भी पड़ती है? यह सवाल इन कविताओं के लेखक से भी किया जा सकता है लेकिन जहाँ शेर हैं ही नहीं, वहाँ मेहनत का सवाल ही क्या? ज्यादातर कवितायें मुक्तछन्द में हैं जो भाव की

झकोर में अपने आप बनता-बिगड़ता चला गया है। कुछ दूसरी कवितायें तुक-बन्दी जैसी लगती हैं जैसे 'काटो, काटो, काटो करवी।' अगर आपने किसान को 'करवी' काटते सुना होगा, तो उसकी ध्वनि इस छोटे से छन्द में भी सुनाई देगी।

साइत और कुसाइत क्या है?
जीवन से बढ़ साइत क्या है?
काटो, काटो, काटो करवी
मारो, मारो, मारो हँसिया,
हिंसा और अहिंसा क्या है?
जीवन से बढ़ हिंसा क्या है?

किसान के हँसिया चलाने के सम पर यह छोटा सा गीत भी बढ़ चलता है, लेकिन छोटे-छोटे कदम रख कर चलने वाले बावन जैसे इस छन्द में कवि ने अहिंसा और जीवन का अनोखा ठाठ रच दिया है। और अगर शेर ही सुनना हो तो अजगर जैसे सरकते हुए इस छन्द को देखिए—

ज़िन्दगी की भीड़ में कंधा रगड़ने और चलने से परे हो,
आदमी की आफ़तों से, आदमी की मौत से एकदम डरे हो।
कायरों की माँद में बैठे अकेले अंधचिंतन कर रहे हो,
हीन निर्बल भावनाओं का निरर्थक सिंधु-मंथन कर रहे हो।

मानना होगा कि इस तरह की कविताओं में भी ओज है। शब्दों के घटा-टोप में ध्वनि की बिजली चमकाने से यह ओज नहीं पैदा हुआ बल्कि लोहे का तार बजाकर, कायरों की माँद में बैठने वालों को ललकार कर पैदा हुआ है।

क्वाँर के महीने में ताल के थमे हुए जल पर जैसे किनारे के फूल-पत्तों की छाया झलक उठती है और उसके निर्मल जल में तट की किसी वस्तु का बिम्ब छिपा नहीं रहता, उसी तरह

इस कवि के चित्त पर वन-प्रकृति की सुषमा भी उभर आयी है। वन के झाड़-झंखाड़ और दैन्य-दुर्बलता के कुश-कंटकों की छाया उस पर नहीं पड़ी, यह कहना भी असङ्गत होगा। वह शहर की बस्ती में धुएँ के नागों को रेंगता हुआ देखता है और उन लोगों को ललकारता है जो इन साँपों के डर से वृद्ध वेश्या-कल्पना की तरफ़ अपना मारुत-मन उड़ाते चले जाते हैं। वह गाँव में किसी काल्पनिक सौन्दर्य के दर्शन नहीं करता। वह जानता है कि बाप के मरने पर खेतिहर मजूर को एक टूटी हुई औगी, बहता हुआ हुक्का और बनिये का भारी क़र्ज विरासत के रूप में मिलता है। वह जानता है कि श्रम की ऐसी अवस्था कर दी गई है कि उसमें मनुष्य भी गाय, बैल, भेड़ों के साथ मिलकर उन्हीं जैसा बन जाता है। उसके घरों के आसपास गन्दगी के ढेर लगे हैं जिनसे वह कुछ देर के लिए ज़िन्दगी का मतलब ही भूल जाता है।

सड़े घूर की गोबर की बदबू से दब कर,
महक ज़िन्दगी के गुलाब की मर जाती है।

मछुआ नदी की बाढ़ से आदमख़ोर मगर को पकड़ लाता है। कुल्हाड़ी की चोटों से वह उसका माँस काट कर राँधता है लेकिन अपनी आदमख़ोर ग़ुलामी पर कुल्हाड़ी चलाने की चेतना उसमें नहीं आई। दीन दुखी कुनबा चौपाल में बैठा हुआ कौड़ा तापता है। लकड़ी और कण्डे सुलगते तो हैं लेकिन धुएँ की गूँजें उठ रही हैं और अभी लपट निकल कर इस दम घोटने वाले धूएँ को दूर नहीं कर पायी। कहीं एक कोने में बैठा हुआ 'चन्दू हाथ में चरस की चिलम दबाये धुएँ के साथ अपनी शेष आयु का धुआँ भी उड़ाता जाता है। बुन्देलखंड के हट्टे-कट्टे हाड़ों के आदमी फूहड़ बातों की चर्चा के फौवारे

उड़ाते हैं। दीपक के मन्द उजेले में आल्हा सुनकर भी उन्हें जोश नहीं आता और वे सुनते-सुनते ही मुर्दों जैसे पड़कर सो जाते हैं।

चित्रकूट के यात्री—

दिन भर अधरम करने वाले,
पर-नारी को ठगने वाले,
पर-सम्पति को हरने वाले,
भीषण हत्या करने वाले,
धर्म लूटने के अधिकारी,
टोली की टोली में निकले,
जैसे गुड़ के लोभी चींटे
लम्बी एक क़तार बनाके
अपने-अपने बिल से निकले।

हिन्दी कविता में यह एक नये ढंग का यथार्थवाद है जो ग़रीबी से पैदा होने वाले मनुष्य के पतन को छिपाता नहीं है। चित्रकूट के यात्री 'काली तेलही' कन्डियाँ पहने हुए स्वर्ग पहुँचने की इच्छा से लम्बे लम्बे क़दम बढ़ाते हुए चले जाते हैं। हमारे सामाजिक जीवन का यह एक कटु सत्य है जिस पर कल्पना का पर्दा नहीं डाला जा सकता। सामन्ती वैभव के दिन बीत चुके हैं और नयी बर्बर सभ्यता ने अपनी चपेट से वन की गोद में सोते हुए गाँव को झकझोर दिया है। कवि ने बड़े दर्द से लिखा है—

अंग अंग उमंग में नवरंग लेकर
अब न दंग मृदंग करते !
ठंड से ऐंठे हुए ठिठुरे बहुत ही
अब न तबले ही ठनकते।

राव-रंगी, भाव-भंगी, केलि-संगी,
स्वर सरंगी के न सजते।
आज बर्बर, क्रूर-कर्कश विश्वभर में
सभ्यता के गाल बजते।

लेकिन यह सामाजिक जीवन का एक पहलू है। पूरी सचाई इसके अन्दर नहीं आती। समाज का एक दूसरा पहलू भी है जहाँ जीते हुए मनुष्य की साँस का स्वर सुनाई पड़ता है। हम देखते हैं कि अपने काम में लगा हुआ मेहनत से चूर आदमी ज़िन्दगी के बारे में भी सोचता है। वह महसूस करता है कि ग़ुलामी और ग़रीबी ईश्वर की बनाई हुई नहीं है; उन्हें मनुष्य ने बनाया है और मनुष्य उन्हें मिटा भी सकता है। यह नयी चेतना का मनुष्य हिंसा और अहिंसा, धीरज और अधीरज— इन तमाम सवालों का हल अपने काम में ढूँढ़ता है। वह करबी काटता हुआ ज्वार के बड़े-बड़े पौधों से धरती को पाटता जाता है। समाज के लिये अन्न पैदा करना जिससे कि सब सुखी रहें, यही अहिंसा है, यह ज़िन्दगी है। जैसे रामचन्द्र जी के अभिषेक के लिए शुभ-घड़ी और मुहूर्त्त सोचने की ज़रूरत नहीं थी, वैसे ही साइत और कुसाइत के विचार किसान की इस कर्मठता से कट जाते हैं। किसान नये गर्व से अपने नाहर बैलों को देखता है। धरती को तड़काने वाले फाल पर, अपने टपकते हुए पसीने पर उसे गर्व होता है। अपना तन-मन खपाकर वह मिट्टी के तन को नरम बनाता है। इसलिये वह कहता है—

गेहूँ, चना नहीं बोता हूँ
ख़ूनी अंगारे बोता हूँ।

कोयले के प्रतीक द्वारा कवि नई चेतना और नयी ज़िन्दगी

की तस्वीर खींचता है। जो कोयले मुर्दा बने हुए मुँह छिपाये रो रहे थे—वे ज़िन्दगी की नयी चिनगारी लगने से शिव के लाल नेत्र जैसे जल उठे हैं। देश में बड़ी तेज़ी से दो दल बनते जा रहे हैं। एक कहता है दुनिया जल्दी बदले। दूसरा कहता है दुनिया कभी न बदले। लेकिन न बदलने वाले अकेले पड़ रहे हैं। और बदलने वालों के साथ सारा देश आ रहा है। इस भावना को कवि ने एक बड़े सादे चित्र के द्वारा अङ्कित किया है—

रनिया मेरी देस-बहिन है,
अति गरीब है, अति गरीब है।
मैं रनिया का देस-बन्धु हूँ,
अति अमीर हूँ, अति अमीर हूँ।
रनिया के घर में हँसिया है,
घास काटने में कुशला है,
मेरे हाथों में रुपिया है,
मैं सुख-सौदागर छलिया हूँ।

× ×

रनिया कहती है जग बदले
जल्दी बदले, जल्दी बदले।
मैं कहता हूँ, कभी न बदले,
कभी न बदले, कभी न बदले।
किंतु आज मेरे विरोध में,
पूरा हिन्दुस्तान खड़ा है।
अब रनिया के दिन आये हैं,
जग उसके माफ़िक बदला है।

कुछ लोगों को बड़ा डर है कि दुनिया बदलेगी तो इन सुख-

सौदागर छलियों के साथ दुनिया का सुख सौन्दर्य भी समाप्त हो जायेगा। वे कहते हैं—ये प्रगतिशील कवि सिर्फ़ रोटी और क्रान्ति की बात करेंगे। प्रकृति के सौंदर्य से इन्हें प्रेम नहीं, मानव हृदय की रसभरी कोमल भावनायें इन्हें छू नहीं गई हैं। ये हमारी सरस भारतीय संस्कृति पर दहकती हुई लू की तरह छा जायेंगे।

मैं समझता हूँ कि दुनिया को बदलने की सबसे ज्यादा चाह उन्हीं में है जो सौन्दर्य और जीवन के प्रेमी हैं, दुनिया को ठगते-ठगते जिनके हृदय से रस की प्यास बुझ नहीं गई, जो सामंती और पूँजीवादी शक्तियों द्वारा उकसाये हुए जनसंहार में मनुष्य की कोमल भावनाओं को कुचला जाते हुए देख नहीं सकते। हिन्दी कवियों की नयी पीढ़ी प्रतिक्रियावाद को इस लिये नहीं ललकारती कि वह उनकी पशुता और बर्बरता को अपनाना चाहती है। उसका आग्रह है कि पशुता और बर्बरता के काँटे खोद निकाले जायें जिससे समाज में फिर मानव-सुलभ भावनाओं की हरी दूब जमायी जा सके। केदार ने लिखा है—

और सरसों की न पूछो
होगयी सबसे सयानी
हाथ पीले कर लिये हैं
ब्याह मंडप में पधारी
फाग गाता मास फागुन
आगया है आज जैसे।
देखता हूँ मैं, स्वयंवर हो रहा है ;
प्रकृति का अनुराग-अंचल हिल रहा है।

यह कविता संघर्ष से पलायन नहीं है। यह हममें निराशा के

भाव नहीं पैदा करती। दुनिया से दूर कल्पना के मीठे सपनों में भूल जाने का आदेश भी नहीं देती। इन पंक्तियों को पढ़कर जीवन में विश्वास बढ़ता है, सौंदर्य और नये जीवन की लालसा और तीव्र होती है। जो कविता मनुष्य के हृदय में नये जीवन की आशा पैदा कर सके, वह पलायनवादी या प्रगति-विरोधी नहीं कही जा सकती।

यहाँ पर 'युग की गंगा' की भूमिका पर दो शब्द कहना ज़रूरी हो जाता है। समाज और संस्कृति के विकास को कवि ने ऐसी सीधी रेखाओं में बाँध दिया है, जैसा कि इतिहास में कभी होता नहीं है। उसने लिखा है, "जब जैसी अर्थनीति होती है, वैसी ही समाजनीति होती है, वैसी ही राजनीति होती है और वैसी ही संस्कृति और सभ्यता होती है।" यह वाक्य एक अर्द्ध-सत्य के आधार पर रचा गया है। समाज की आर्थिक व्यवस्था का बहुत गहरा प्रभाव संस्कृति और राजनीति पर पड़ता है परन्तु बिल्कुल उसके प्रतिबिम्ब रूप में इनका निर्माण नहीं होता। सामाजिक विकास-क्रम में असंगतियाँ भी होती हैं और ये असंगतियाँ संस्कृति और सभ्यता में भी प्रकट होती हैं। कवि ने विकास की इस द्वंद्व-मूलक विशेषता को भुला दिया है। इसलिए उसने एक बहुत ही भ्रान्तिपूर्ण घोषणा कर दी है— "पिछला समस्त भारतीय साहित्य केवलमात्र ईश्वर, भूपति, पुरोहित, चमूपति और व्यापारियों के संसार की मानसिक प्रक्रिया का साहित्य है।" बात ऐसी हो तो पुराने साहित्य को होली के अर्पित कर देना कोई पाप न होगा। लेकिन पुराने समाज में जहाँ पुरोहितों और सामंतों का बोलबाला था, वहाँ इनके विरुद्ध एक स्वतन्त्र जीवन के लिये लड़ने वालों का एकदम अभाव भी नहीं था। हमारे साहित्य की एक जागरूक और

प्रगतिशील परम्परा है जिससे हमें नाता तोड़ना नहीं जोड़ना है। संत कवियों ने जनता की समानता और एकता के भावों को व्यक्त किया है। इसे पलायन कहना भ्रामक है। सामन्तशाही के प्रति जनता का विरोध अनेक संश्लिष्ट रूपों में प्रकट हुआ है। उन रूपों को पहचानना हमारा काम है; एक यांत्रिक-दृष्टि से उनकी तरफ़ से मुँह मोड़ लेना प्रगति नहीं, भ्रम का लक्षण है। तुलसी, सूर, मीरा, कबीर, दादू आदि ने भारतीय हृदय को प्रेमरस से सींचा है, उसमें मानव-सुलभ सहानुभूति के अंकुर उपजाये हैं; उनके सबद, साखी और बानी हमारी सजीव संस्कृति की वाणी हैं। भारत की जिस पुरानी संस्कृति पर हम गर्व कर सकते हैं, ये उसके निर्माता हैं।

भूमिका की भ्रान्तियाँ एक चिंतक की हैं। कवि की नैसर्गिक रचनाओं की धारा दूसरी ओर है। यह 'युग की गंगा' का हरिद्वार है। अभी उसमें ऊसरों और खेतों का पानी मिलना बाक़ी है। हमें विश्वास है कि कवि की वाणी अधिक सबल होकर जनता के कंठ से घुलमिल जायेगी। नयी हिन्दी कविता के निर्माण में जो अनेक प्रतिभाशाली कवि लगे हैं, उनमें केदारनाथ अग्रवाल का महत्त्वपूर्ण स्थान है। वे जनता की भावनाओं और उसकी भाव-व्यंजना के प्रकारों को बहुत निकट से पहचानते हैं, इसलिए उनका उत्तरदायित्व भी विशेष है।

(जुलाई, १९४७)

जनहत्या और संस्कृति

ये दंगे नहीं बिजन हैं—जनता का कत्ले आम। यह बिजन जनता पर नहीं; संस्कृति, इन्सानियत और हमारे स्वाधीनता-संग्राम की महान् परम्परा पर बोला गया है। यह चुनौती है समूची जनता को और खास तौर से लेखकों को कि अब अगला कदम ज़िन्दगी की तरफ़ उठता है या मौत की तरफ़।

हिन्दुस्तान में ऐसे इलाके बन गये हैं जहाँ पर हिन्दू मुस्लिम एकता का नाम लेना हिन्दुओं या मुसलमानों के प्रति विश्वासघात करना समझा जाता है। ये इलाके ऐसे हैं जहाँ राष्ट्रीय परम्परा को बिल्कुल दबा दिया गया है, जहाँ खुले खजाने लूट, व्यभिचार और हत्या का नग्न नाच हो रहा है। पुराने दंगों और इस बिजन में बहुत बड़ा फ़र्क है। किसी ज़माने में बाजे-गाजे के सवाल को लेकर लोग लाठी-डण्डे लेकर सड़कों पर इकट्ठे हो जाते थे। वह दंगों का सतयुग था। पुलिस वाले लाख कोशिश करने पर भी उन दंगों को कत्लेआम का रूप न दे पाते थे। इसके बाद कैबिनेट मिशन और विधान सभा के दिन आये। अब लोग अपनी-अपना छतों से 'जयहिन्द' और 'अल्लाहो-अकबर' के नारे लगाने लगे। शहर में कर्फ़्यू लग जाता था। रोज़ कमाकर खाने वाले डरे और सहमे हुए घरों में बन्द रहते थे। दफ़ा चवालिस लगा कर दंगा-विरोधी सभाएँ रोक दी जाती थी। इक्के दुक्के छुरे के हमले हो जाते थे। कभी-कभी गुण्डे पकड़ भी लिये जाते थे और तब गुण्डों के सरपरस्त कहते थे, 'उनके गुण्डों को तो छोड़ देते हैं, हमारे ही गुण्डे पकड़ लेते हैं।' यह दंगों का त्रेतायुग था। उसके बाद

कलकत्ता और नोआखाली के दिन आये जब कि मुहल्लों-मुहल्लों में हथियारबन्द लड़ाइयाँ हुईं। इस द्वापरयुग में कलकत्ता के ट्रामवे मजदूरों का अटूट एका और जनता के शांति प्रदर्शन भी देखे गये। लेकिन पंजाब, भरतपुर, अलवर, दिल्ली आदि के दंगे बिल्कुल कत्लेआम की श्रेणी में आते हैं। पुराने दंगों से इनकी कोई तुलना नहीं। पुलिस और फ़ौज के बड़े-बड़े अफ़सरों, नवाबों, राजाओं और बड़े-बड़े जमींदारों और पूँजीवादी नेताओं, मुनाफ़ाखोरों और चोर बाजार के आढ़तियों की साजिश से ये बिजल संगठित किये गये हैं।

पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में हिन्दू मुसलमान कहाँ ज्यादा मारे गये, इस पर ज़ोरों से बहस होती है, और शायद अभी काफ़ी दिन होती रहेगी। लेकिन इस बात में किसी की दो रायें नहीं हैं कि इस क़त्ले-आम से पूरे पंजाब का सत्यानाश हो गया है। दंगों का कारण बदले की भावना हो सकती है, लेकिन उसका नतीजा बदला न होकर अपना सर्वनाश होता है। लाखों की तादाद में घर बार छोड़कर, अपने खेत-खलिहान और मिलें छोड़कर बूढ़े, बच्चे, औरतें एक जगह से दूसरी जगह सैकड़ों मील की दूरी पर बिखर गये हैं। उनका बसाना एक बहुत बड़ी समस्या है। जिन घरों और मुहल्लों में उनकी पीढ़ियाँ बीत गई थीं, उनसे उजड़ कर राह चलते हजारों की तादाद में ये बूढ़े, बच्चे, औरतें क़त्ल कर दिये गये हैं। पंजाब में अकाल और महामारी की छाया पड़ने लगी है। खेती-बारी, उद्योग-धधों का जितना नुकसान इन कथित दंगों से हुआ है, उतना किसी महायुद्ध से भी न होता। बदले की भावना से पागल होकर दोनों तरफ़ के जिन लोगों ने इस हत्याकाण्ड को बढ़ावा दिया है; उन्हें अपना घर बनाने में बहुत लम्बा समय

लगेगा और इसमें भी सन्देह है कि वे घर बनाने लायक रह जायेंगे या नहीं। घर बन भी जायें, लेकिन हमारी मनुष्यता को जो धक्का लगा है, उससे उसे संभालकर फिर अपने पैरों खड़ा करना और भी जीवट का काम है।

युक्त-प्रान्त की सीमाओं पर छोटी-बड़ी रियासतें बिखरी हुई हैं। वहाँ से जो ज़हरीली हवा सूबे की तरफ़ बह रही है वह किसी दिन भी यहाँ के आर्थिक और सामाजिक जीवन को बिल्कुल तबाह कर सकती है। हम अच्छे खासे पढ़े-लिखे लोगों में ऐसी बातें सुनते हैं जिनकी पहले कल्पना भी न कर सकते थे। इस तरह की बातें और इस 'पैमाने पर पूर्वी युक्तप्रान्त के ज़िलों में आज भी नहीं सुनी जातीं। यह हवा उत्तर-पश्चिम से आ रही है। गाँधीजी के लिए इसमें क्या-क्या उद्गार रहते हैं! तर्क बहुत सीधा होता है, बिना लड़ाई के फैसला न होगा और नेहरू-सरकार तथा सूबे की काँग्रेसी हुकूमत लड़ाई की पूरी-पूरी तैयारी कर नहीं सकतीं। लड़ाई की तैयारी के लिए अपने यहाँ के अल्प संख्यकों को खतम करना है, और नेहरू-सरकार को हथियाना है। एक सज्जन नये-नये आगरे आये थे। यहाँ पर हिन्दू-मुसलमानों को सड़कों पर घूमते हुए देखकर बोले—"यहाँ की सरकार का कोई प्रोग्राम नहीं है।" दोनों मज़हब के लोगों का एक साथ घूमना उन्हें खल गया। 'प्रोग्राम' का मतलब था—क़त्ले-आम!

दंगों की आग भड़काने वाले अल्पसंख्यक लोगों को ही नहीं खतम करना चाहते, वे इस आग में अपनी शत्रु, देश की प्रगतिशील ताकतों को भी खत्म कर देना चाहते हैं। उनके हृदय में मुसलमानों के प्रति घृणा तो है ही, लेकिन उससे ज़्यादा घृणा गाँधीजी और उन जैसों के लिए है। हिन्दू-राज के

नाम पर जिस हुकूमत का वे स्वप्न देख रहे हैं, उसमें अंग्रेज़ों के पाले हुए नेता, राजा और ज़मींदार सबसे ऊपर होंगे। टोड़ियों और मुनाफ़ाखोरों का यह स्वर्ग होगा। अभी से बड़े-बड़े ज़मींदार यह चुनौती देने लगे हैं कि देखें, ज़मींदारी प्रथा कौन मिटाता है। जो राजा कल तक वेवल का स्वागत करते थे और जनता के भय से काँप रहे थे कि सिंहासन आज गया, कल गया, वे दिल्ली के तख्त पर बैठने का स्वप्न देख रहे हैं! अपने गाँवों में वे खुला प्रचार कर रहे हैं कि महाराज को चक्रवर्ती सम्राट् बनाना है। हिन्दू राज के नाम की आड़ में घोर प्रतिक्रियावादी राज कायम करने का षड्यन्त्र चल रहा है। हिन्दू-संगठन के नाम पर भोले-भाले लड़कों के दिल में पहले तो मुसलमानों की तरफ़ से नफरत पैदा की जाती है; फिर अंग्रेज़ी सत्ता के स्तम्भ देशी राजाओं और जमींदारों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न की जाती है। षड्यन्त्रकारी समझते हैं कि प्रतिहिंसा की आग जलाकर वे तमाम जनता को गृह-युद्ध में लगा देंगे और इस तरह उसका एका और संगठन बिल्कुल टूट जायगा, तब वे हिन्दुस्तान को प्रतिक्रियावाद का गढ़ बना लेंगे।

साम्राज्यवाद के अंग्रेज़ी चारण हिन्दुस्तान की खून-खराबी से बहुत परेशान दिखायी देते हैं। इसके स्वाधीनता संग्राम पर उनके अखबार किसी कोने में दो लाइनें छाप देते थे, लेकिन दंगों के लिए मोटी-मोटी हेड लाइनें और मुख पृष्ठ के बॉक्स सुरक्षित रखे जाते हैं। "चोर के भाई गिरहकट"— हॉलैंड के साम्राज्यवादी संयुक्त-राष्ट्र सभा में इन दंगों को उछालते हैं और इस तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया में अपनी करतूतों पर पर्दा डालते हैं। फील्डमार्शल स्मट्स 'रायटर'

की भेजी हुई खबरों को बड़े चाव से पढ़ते हैं। चर्चिल की तोप में ये खबरें गोलों का काम कर रही हैं। हिन्दुस्तान के दोस्त, जिन्होंने हमारी आज़ादी की बराबर हिमायत की है, इन दंगों से परेशान हो जाते हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि हिन्द महासागर में यूरोप के साम्राज्यवाद की नैया डगमगा रही थी। अमरीका, ब्रिटेन, हालैंड, फ्रांस सभी परेशान थे। फ्रांसीसी और डच जहाज़ हिन्द एशिया और वियतनाम को कुचलने के लिए हिन्दुस्तान का सहारा ढूँढ़ रहे थे। इनके जहाज़ों का यहाँ उतरना बन्द कराया गया था। यहाँ से फ़ौजी सामान मिलने की उम्मीद कम रही थी। हिन्दुस्तान ने आगे बढ़कर संयुक्त-राष्ट्र सभा में हिन्द एशिया का मसला पेश कर दिया था और कुछ समय के लिए हालैंड को लड़ाई बन्द करने पर मजबूर किया गया था। इधर अपने पड़ोसी सोवियत रूस से हिन्दुस्तान भाई चारा कायम करने लगा था। वेवल का पालतू दीवान रामस्वामी ऐयर चीख उठा था, हिन्दुस्तान में सोवियत राजदूत आयेगा तो यहाँ समाजवाद फैल जायगा। घर में यह हाल था कि अमरीका से लिया हुआ कर्ज़ साल भर में ही खा-पीकर बराबर कर दिया था। सारा देश कोयला और डालर के सङ्कट में पड़ा हुआ था और है। मिश्र और यूनान से बराबर यह माँग उठ रही थी कि अंग्रेज़ी फौजें निकाली जायें। अमरीका के धन-कुबेर इस साम्राज्यवादी चौखटे में अपना नक़्शा जड़ने के लिए उतावले थे और अब भी हैं। यूनान से अंग्रेज़ी फ़ौज हटाने के पहले ही वहाँ वे अमरीकी फ़ौज भेज देना चाहते हैं। दुनिया के हर मामले में दखल देकर सुलह कराने के लिए वे सबसे आगे आ जाते हैं। हिन्द एशिया के लोग पुकार-पुकार-

कर कहते रह गये कि हमें इन सुलहबाजों की जरूरत नहीं, लेकिन ये मेहमान उनके घर जाकर अपना फर्ज अदा करने पर तुले रहे! महामना जान मार्शल उजड़े हुए यूरोप को बसाने में लगे हैं। आधे से ज्यादा यूरोप ने उनकी हमदर्दी के लिए धन्यवाद देकर पिंड छुड़ा लिया है। बाकी देशों ने अपना घर बसाने के नाम पर एक योजना बनाई लेकिन अमरीकी धन-कुबेरों को वह भी पसन्द न आयी। अपनी रक्षा करने के नाम पर ट्रूमैन ने दक्षिण अमरीका में सैन्य-सम्मेलन किया, लेकिन इस रक्षा-योजना में सोवियत प्रतिनिधि, विशिन्स्की ने पंचर कर दिया। तबसे अंग्रेजी अखबारों के विशेष संवाददाता से लेकर प्रधान-सम्पादक तक रोज़ अपनी नियत की सफ़ाई देने में लगे हुए हैं। अमरीका के बड़े-बड़े अर्थ-शास्त्री इस भयानक चिन्ता में पड़े हैं कि उनके देश में जो अर्थ-सङ्कट आ रहा है—ग़रीब दुनिया में अमरीकी माल की खपत न होने से उन पर जो तबाही आ रही है—उसका मुकाबला करने के लिए वे किस हिकमत से काम लेंगे।

ऐसी हालत में हिन्दुस्तान का यह बिजन शुरू किया गया है। बरसों पहले से इसके लिए तैयारी की गयी है। कैबिनेट मिशन से लेकर बँटवारे तक एटली ने बयान-दर-बयान देकर इसके लिए फिज़ा तैयार की है। राजनीति के हारे हुए खिलाड़ियों ने एँड़ी-चोटी का जोर लगाकर राख में दबी हुई चिनगारी को फूँक-फूँककर आज की होली जलाई है। इसके लिए गुण्डा-सरदारों ने लठैती, छुरेबाजी की रिहर्सल की है। फ़ौज और नौकरशाहों ने, अंग्रेज अफसरों और उनके साथियों ने जनता के मिले-जुले आन्दोलन पर बार बार हमले किये हैं जिससे कि एकता की बुनियाद ही न रहे और इस आग को

बुझाने वाली कोई ताकत बाकी न रह जाय। जनता का नमक खाकर और राष्ट्रीय सरकार को सलाम झुकाकर भीतर-भीतर इन्होंने षड़यंत्र करके जनता की हत्या की तैयारी करने में कोई कसर नहीं रक्खी है। "राष्ट्रीय" अखबारों ने महीनों और बरसों तक एक दूसरे के खिलाफ जहर उगला है। हिन्दुस्तान की स्वाधीनता-प्रेमी जनता के हृदय में अपने अखबारों के जरिये उन्होंने रोज़ सबेरे घृणा और प्रतिहिंसा के इन्जेक्शन लगायें हैं। इतनी तैयारी के बाद ही उत्तरी भारत में वे इस बिजन का समा बाँध सके हैं और समझते हैं कि कुछ दिन में यही फ़िज़ा सारे हिन्दुस्तान में फैल जायगी। फ्रांसीसी, डच, अंग्रेज़ी और अमरीकी डाकुओं की उम्मीद इसी बिजन पर है। हिन्द महासागर में डूबती हुई नैया को बचाने के लिए उन्हें यही एक पतवार दिखायी देती है।

यह बिल्कुल सत्य है कि मौत और प्रतिक्रिया की ताकतों ने हमारे बढ़ते हुए जनवादी आन्दोलन को चुनौती दी है। हिन्दुओं और मुसलमानों का खून अलग-अलग बहाने पर भी वे उसमें एक ही चीज़ को डुबाना चाहते हैं और वह है हिन्दुस्तान का साम्राज्य-विरोधी मोर्चा। ये ताकतें चाहती हैं कि सच्चा जनतंत्र कायम करने की बातें हवा हो जायें। जमींदारी प्रथा के मिटाने की बात कहना पाप हो जाय। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात कहे, उसे तलवार के घाट उतार दिया जाय। जब तक हमारी जनता में इन्सानियत बाकी रहेगी, तब तक उनके ये मन्सूबे पूरे नहीं हो सकते,—यह जानकर वे पहले इन्सानियत को ही कुन्द करना शुरू करते हैं। वे आज हमारे दिलों में ये भव पैदा कर रहे हैं कि आदमी की जान की कोई कीमत नहीं। प्रेम और सहानुभूति सिरफिरे

लोगों के भुलावे हैं। दूध-पीते बच्चों को—दीवाल से फेंककर मार देना, जवान औरतों को सड़क पर नंगा घुमाकर उनकी बेइज्जती करना, छिपकर हत्या करना, घर जलाना, माल लूटना वीरता की बातें हैं। प्रतिक्रियावादी समझते हैं कि इन्सानियत को कुन्द करके ही वे जनता पर अपना राज कायम कर सकते हैं।

यह चुनौती हमारी मनुष्यता और देश भक्ति को है। यह हमारी ज़िन्दगी, माँ-बहनों की लाज और बच्चों की रोटी का सवाल है। कौन नहीं जानता कि जहाँ-जहाँ हत्याकाण्ड हुए हैं, वहाँ पर एक सम्प्रदाय के गुण्डों ने अपनी तरफ के लोगों को भी लूटना शुरू कर दिया है। जिसके मुँह में खून लग चुका है, वह फिर हिन्दू-मुसलमान नहीं पहचानता। उसके लिए किसी की माँ-बहनें नहीं रहीं। यह बर्बादी और तबाही अकेले एक सम्प्रदाय के लिए हो ही नहीं सकती। उसकी चपेट में दोनों आते हैं। दोनों सत्यानाशी की ज्वाला में जलते हैं। ऐसी परिस्थिति में हिन्दी लेखकों पर बहुत बड़ा उत्तरदायित्व है। किसी समय बंगाल के अकाल ने उनकी आत्मा को हिला दिया था और उन्होंने अपनी जनता में देश-भक्ति और मानवता की चेतना पैदा की थी। आज के दुर्दिन बंगाल के अकाल से भयानक नहीं हैं। हिंदी लेखकों ने दंगों के ख़िलाफ़ जो कुछ लिखा है, वह प्रशंसनीय है। हमारे बड़े-बड़े कवियों ने और तरुण साहित्यकारों ने इस बर्बरता के विरुद्ध अपनी लेखनी उठायी है। लेकिन इतना काफ़ी नहीं है। आज देश का भाग्य-निर्णय हो रहा है। लेखकों को—रणभूमि के सिपाही की तरह अपने समय के प्रत्येक क्षण का, अपनी शक्ति के प्रत्येक अंश का उपयोग जनवादी आन्दोलन में लगाना है।

अपनी संस्कृति की जलती हुई चिता में घी डालना हमारा काम नहीं है। उसे सब साधनों से बुझाकर ही हम कल के लिए अपनी पुस्तकों के लिए दो-चार पाठक सुरक्षित रख सकते हैं। हमारे लिए चेतावनी है कि अभी दिल्ली में देशभक्त स्व० अन्सारी के घर पर उर्दू का पुस्तकालय ही जला है। कल काशी में नागरी-प्रचारिणी सभा का पुस्तकालय भी जल उठेगा। जो मनुष्य ज़िन्दगी की कीमत नहीं समझता, जो दूसरों का खून बहाने में ही मनुष्यता की सार्थकता मानता है, वह संस्कृति और साहित्य को रक्षा कैसे कर सकता है? उसकी तलवार और हमारी लेखनी—आज इन दोनों का संघर्ष है। यदि देश के प्रति अपने कर्त्तव्य को समझकर अपने महान् लेखकों की परम्परा का कायम रखते हुए हमने अपनी लेखनी का उपयोग किया; तो निस्सन्देह तलवार की पराजय होगी। इस तरह के संघष और जगह भी हुए हैं और अन्त में मानवता के समर्थक लेखक ही जीते हैं। तब संसार की सबसे प्राचीन संस्कृति के इस देश में ही पशुता की जीत कैसे होगी?

(सितम्बर, १९४७)

हिन्दी गद्य शैली पर कुछ विचार

आजसे लगभग ७० वर्ष पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने नये हिन्दी गद्य की नींव डाली थी। वैसे ब्रजभाषा से भिन्न नयी हिन्दी लिखने का प्रयास और भी पहले आरम्भ हो गया था। इसलिये हम कह सकते हैं कि अब तक नये हिन्दी गद्य के सौ वर्ष बीत चुके हैं और अब इस बात पर विचार करना आवश्यक है कि साधारण गद्य के लिये—हम एक साफ-सुथरी शैली बना सके हैं या नहीं। हिन्दी गद्य के विकास में जो दो-तीन मार्ग चिन्ह स्पष्ट दिखायी देते हैं, उनमें सबसे पहले तो आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगियों ने ही हिन्दी गद्य शैली पर एक अमिट छाप छोड़ दी है। इस शैली पर विचार करते हुए दो बातें सभी आलोचक मानते हैं। पहली तो यह कि इसमें एक जिन्दादिली है जो बाद के गद्य में प्राय. नहीं मिलती। दूसरी यह कि इस भाषा में परिष्कार की जरूरत है और अपने तात्कालिक रूप में वह शैली आज ग्रहण नहीं की जा सकती।

इन दोनों बातों पर कुछ ठहरकर विचार करना आवश्यक है। भारतेन्दु-युग के लेखकों की शैली में जिन्दादिली क्यों है और बाद के गद्य से वह लोप क्यों हो गयी? इसका कारण कुछ लोग यह बताते हैं कि भारतेन्दु और उनके सहयोगी

बहुत गम्भीर चीजें नहीं लिखते थे। इसलिये उनकी शैली में हँसी मजाक की गुञ्जाइश ज्यादा रहती थी। आगे चलकर हमारी शैली में भाव-गाम्भीर्य आया और इसलिये यह जरूरी हो गया कि इस गहराई में जिन्दा-दिली डूब जाय। एक बात ध्यान देने की यह है कि भारतेन्दु-युग के लेखक इस पीढ़ी के लेखकों की तुलना में संस्कृत के अधिक निकट थे। उनके सामने हिन्दी गद्य की कोई विकसित परम्परा न थी और इसलिये होना तो यह चाहिये था कि संस्कृत के शब्दों की भरमार से उनकी शैली बोझिल बन जाती। लेकिन हुआ इसका उल्टा ही। इसके सिवा यह बात भी सही नहीं है कि उस युग में गम्भीर आलोचना नहीं लिखी गयी। उस युग के मासिक पत्रों की जिल्दों में सैकड़ों सुन्दर आलोचनात्मक निबन्ध आज भी सुरक्षित हैं। (यानी जहाँ उन्हें रद्दी में बेच नहीं डाला गया या जिल्दों में दीमक नहीं लग गया)। उनका सङ्कलन करके अब तक किसी ने उन्हें प्रकाशित नहीं किया, इसका बहुत बड़ा श्रेय हमारे प्रकाशकों को है। उन निबन्धों से आज के बहुत ही मामूली आलोचनात्मक निबन्धों की तुलना की जाय तो दोनों की शैली का भेद मालूम पड़ जायगा। उस समय के अधिकतर लेखक यह कोशिश करते थे कि कठिन और दुरूह बातों को भी आसानी से समझा दें। आज के काफ़ी लेखकों की यह कोशिश होती है कि साधारण बातों को भी असाधारण शब्दावली में प्रकट करके अपने निबन्धों को गम्भीर बना दें।

यह सही है कि भारतेन्दु-युग की गद्य-शैली में परिष्कार की जरूरत थी। लेकिन यह जरूरत इतनी बड़ी न थी जितनी कि लोग समझते हैं। बाल कृष्ण भट्ट के निबन्ध, भारतेन्दु के नाटकों में वार्तालाप, राधाचरण गोस्वामी के प्रहसन—इनमें

बहुत परिष्कार की गुञ्जाइश नहीं है। इसके अलावा जो परिष्क आप करेंगे, वह कुछ शब्दों को लेकर होगा, वाक्य-रचना, शब्दों के चुनाव, शैलीके प्रवाह आदि में इससे ज्यादा अन्तर न पड़ेगा। यानी भारतेन्दु युग का कोई सचेत लेखक व्याकरण की दो-चार अशुद्धियाँ बराता हुआ गद्य लिखता तो उसकी जिन्दादिली में ज्यादा फर्क न पड़ता। इसलिये जिन्दादिली का सबब साहित्य का हल्कापन नहीं है। अगर ऐसा हो तो हल्केपन के डर से कोई भी जिन्दादिल लेखक साहित्य की दुनिया में पैर ही न रखे।

भारतेन्दु-युग की गद्य शैली पर थोड़ा और विचार करने से उसकी कुछ ऐसी विशेषताएँ सामने आती हैं जो बाद के गद्य में विशेपकर सन् २० से सन् ४० तक के गद्य में कम मिलती हैं। पहली विशेषता यह है कि इन लेखकों के मन में शब्दों का चुनाव करते हुए, किसी तरह के निषेध का विचार आड़े नहीं आता। द्विवेदी युग में हमारे भीतर एक निषेध-भावना घर कर गयी थी—एक शब्द को हम जानते हैं, बातचीत में उसका प्रयोग भी करते हैं लेकिन गद्य में उसे लिखें या न लिखें, यह प्रश्न बार-बार लेखकों के सामने आता था। भारतेन्दु-युग के लेखकों ने नयी हिन्दी का रूप सँवारते हुए बङ्गला और संस्कृत की ओर भी ध्यान दिया, लेकिन सबसे ज्यादा ध्यान उन्होंने उस बोलचाल की भाषा पर दिया जो नित्य ही उनके कान में पड़ती थी। भारतेन्दु युग की गद्य शैली का आधार बोलचाल की भाषा है। उस समय के निबन्धों को पढ़िये—तो यह नहीं लगता कि इन्हें किसी ने लिखा है। ऐसा मालूम होता है कि लेखक हमसे बातें कर रहा है और हम छापे के अक्षरों में भी उसकी आवाज़ सुनते जाते हैं। द्विवेदी-युग में परिष्कार के बहाने गद्य-

शैली का आधार ही बदल दिया गया। अधिकांश लेखकों ने बोलचाल की भाषा से बार-बार बचने की कोशिश करते हुए शुद्ध साहित्यिक हिन्दी को अपनी शैली का आधार बनाया।

बोलचाल की भाषा को आधार बनाने से हीं भारतेन्दु-युग के लेखक अपनी शैली में एक बहुत ही बलवती ग्राहिका शक्ति पैदा कर सके थे। वे जिस शब्द को भी चाहते थे, उसे हिन्दी में पचा लेते थे। इस तरह वे फारसी, अरबी और अंग्रेजी के शब्दों का ही रूपान्तर न कर लेते थे बल्कि हिन्दी और संस्कृत का भेद मानते हुए संस्कृत शब्दों का रूपान्तर भी कर लेते थे। हमारी ग्रामीण भाषाओं में यह प्रवृत्ति है कि संस्कृत के शब्द अपने सरल तद्भव रूप में काम में लाये जाते हैं। भारतेन्दु युग के लेखकों ने अपनी शैली में इस प्रवृत्ति को उभारा। उन्होंने तद्भव शब्दों का बहुतायत से प्रयोग किया, इसके अलावा ग्राम-भाषाओं से भी जहाँ तक हो सका शब्द खींचे और इस तरह नयी हिन्दी को समृद्ध किया। आगे चलकर यह प्रवृत्ति बिल्कुल बदल गयी। सस्कृत शब्दों के तद्भव रूप पर जोर देने के बदले हम तद्भव शब्दों को भी तत्सम रूप देने लगे।

यहाँ पर हिन्दी भाषा के मौलिक विकास पर दो शब्द कहना असंगत न होगा। पं० अमरनाथ झा अक्सर कहते सुने जाते हैं—मेरी मातृभाषा हिन्दी नहीं है परन्तु संस्कृतगर्भित होने के कारण हिन्दी देश के अधिकांश भाग में बोली और समझी जाती है। इस तरह की बातें सभा-समाज में आये दिन हम दूसरों के मुँह से भी सुना करते हैं। यह बिल्कुल सही है कि हिन्दुस्तान के अधिकांश भाग में हिन्दी बोली और समझी जाती है। देश की और किसी भाषा को यह गौरव प्राप्त नहीं है। लेकिन 'हाथ

कङ्गन को आरसी क्या ?' कलकत्ते की हरीसन रोड या बम्बई के परेल में उन लोगों की बोली सुनिये जिन्होंने हिन्दी को वास्तव में यह गौरव दिया है। इनकी बोली हुई हिन्दी का रूप—जो हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा का एक मात्र आधार है—पं० अमरनाथ झा की संस्कृति-गर्भित अ-मातृभाषा हिन्दी से बहुत भिन्न है। झा महोदय के लिये क्षम्य है कि मातृ-भाषा न होते हुए भी वे हिन्दी को उसके किसी भी रूप में बोल लेते हैं लेकिन जो लोग हिन्दी को मातृ-भाषा मानते हैं, उन्हें तो अपनी भाषा के उस रूप की रक्षा करनी चाहिये जो सचमुच उनके आये दिन के व्यवहार में प्रकट होता है।

सम्वत् ६०० से लेकर सम्वत् २००० तक हिन्दी का विकास किस ओर हुआ है? हिन्दी भाषा की भागीरथी हिमालय से समुद्र की ओर बही है या समुद्र से हिमालय की ओर? गोस्वामी तुलसीदास, भारतेन्दु और प्रेमचन्द ने हिन्दी के संस्कृत रूप को सँवारा है या उसके प्राकृत रूप को? यदि यह दावा सच होता कि भारतीय भाषाओं की एकता का आधार संस्कृत के तत्सम शब्दों का समान रूप से प्रयोग है तो बङ्गला, गुजराती, हिन्दी, मराठी आदि-आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास बिलकुल अस्वाभाविक होता। इतिहास की माँग कुछ और थी, भाषा-विज्ञान के आचार्यों की माँग कुछ दूसरी है। गुजराती, मराठी, बङ्गला, हिन्दी आदि भाषाओं का अलग-अलग विकास इसलिये हुआ है कि इन भाषाओं ने अपने प्राकृत रूप को सँवारा है। इन सब भाषाओं में जो परस्पर समानता है, वह संस्कृत शब्दावली से कहीं ज्यादा उनके प्राकृत रूप के कारण है। उन्होंने तत्सम शब्द भी लिये हैं और साहित्य-रचना में

विशेष रूप से लिये हैं लेकिन बङ्गला, हिन्दी या मराठी की जातीयता, उसका विशेष रूप, उसका बाँकपन या वह भदेसपन जिसका उल्लेख गोस्वामी तुलसीदास ने किया था, संस्कृत शब्दों के प्रयोग के कारण नहीं है। भाषा की भागीरथी प्राकृत रूप समुद्र की ओर ही बह रही है, संस्कृत रूप हिमालय की ओर नहीं। हिमालय की बरफ घुल-घुलकर जड़ से जल बन गयी है और उसमें जन-पदों के ऊसर और खेतों का बरसाती पानी भी मिल गया है। हिन्दी के इस समृद्ध रूप को छोड़कर संस्कृति के आधार पर उसे समूचे भारत में लोकप्रिय बनाने का प्रयत्न काशी और प्रयाग की गङ्गा को छोड़कर हिमालय की चट्टानें पूजने के समान हैं।

हिन्दी लेखकों की नयी पीढ़ी देश में एक महान् परिवर्तन देख रही है और इस परिवर्तन से भाषा और साहित्य के क्षेत्र में लाभ उठाना इस नयी पीढ़ी का ही काम होगा। भाषा-विज्ञान के आचार्य हिन्दी के चाहे जिस रूप की कल्पना करें, भारत के इतिहास ने उसके दूसरे ही रूप को रचना और सँवारना शुरू कर दिया है। अभी तक हम हिन्दी को जनता की भाषा कहते आये थे लेकिन जनता का ९० फ़ी सदी भाग हमारी इस हिन्दी से अपरिचित था। अब समय आ गया है कि ९० फ़ी सदी जनता शिक्षित होकर अपनी भाषा को पहचाने और उसका रूप सँवारने में हाथ बटाये। शिक्षा का प्रसार एक ऐसी बाढ़ होगी जो हमारी भाषा और साहित्य के उद्यान पर एक बार छा जायेगा और यहाँ की तमाम विनाशकारी घास पात को बहा ले जायेगा। वे दरिद्र नारायण जिनका नाम लेकर हम हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानते आये हैं, हिन्दी बोलेंगे और लिखेंगे भी। भाषा विज्ञान के आचार्यों ने चौका लगाकर, छूत-पाक का बड़ा

विचार करते हुए, जो तत्सम खिचड़ी पकाई थी, उसमें अब दरिद्र नारायण भी हिस्सा बटायेंगे। यह मानी हुई बात है कि ऐसा होने पर आचार्य लोग यह विवाद करेंगे कि इन असंस्कृत और अशिक्षित व्यक्तियों ने हमारे शुद्ध साहित्य और शुद्ध संस्कृति के चौके को छूत कर डाला। दरिद्र नारायण को बहुत दिन तक भूखा रखा गया है। साम्राज्यवाद ने उनके पेट को ही नहीं मारा, संस्कृति के नाम पर भी उन्हें यथाशक्ति भूखा मारने की कोशिश की है। शिक्षित और जाग्रत होने पर जनता लकीर खींचकर चौके से बाहर नहीं रखी जा सकेगी। वास्तव में वही संस्कृति की निर्माता है; वही तद्भव और तत्सम रूपों का, संस्कृत और प्राकृत रूप का, मातृभाषा और राष्ट्रभाषा के प्रश्नों का समाधान करने वाली है। उस समय देखना होगा कि हिन्दी की गद्य-शैली आज की-सी ही रहती है या उसमें बहुत बड़ा परिवर्तन होता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका यह अर्थ नहीं है कि हिन्दी के बड़े लेखकों ने बोलचाल की भाषा को आधार मानकर अपनी शैली को रचा ही नहीं है। प्रेमचन्द के उपन्यास इस बात की जीती जागती मिसाल हैं कि बोलचाल की भाषा को आधार मानने से कितनी लोकप्रिय रचनाएँ की जा सकती हैं। कविता के क्षेत्र में श्री मैथिलीशरण गुप्त, दिनकर, नरेन्द्र, सुमन, गिरजा कुमार, केदारनाथ, नैपाली, आदि ने सरल और सुबोध शैली अपनाने की चेष्टा की है। युद्ध काल में और उसके बाद कुछ लेखकों ने सचेत होकर इस तरफ ध्यान दिया है और उन्हों ने छायावाद के उत्तरकाल की शैली को बदला है। कोई नहीं कह सकता कि इस प्रयत्न से उनकी व्यंजना शक्ति कम हो गयी है। वास्तव में यह शक्ति कम होने के बदले और बढ़ गयी है।

पुरानी शैली की जड़ता सबसे ज़्यादा नाटकों में अखरती है। नाटक की सफलता सबसे अधिक बातचीत की स्वाभाविकता पर निर्भर है। हिन्दी में जिन लोगों ने नाटक लिखने का रिकार्ड तोड़ा है, उन्होंने भी इस स्वाभाविकता को बार-बार ठुकराया है। यदि नाटक की कथा-वस्तु ऐतिहासिक या पौराणिक हुई, तब तो लेखक अपने लिये छूट मानता है कि वह अधिक से अधिक अस्वाभाविक शैली अपना सकता है। बात संस्कृत शब्दों की नहीं है; तत्सम रूप नाटकों में भी खपाये जा सकते हैं। अस्वाभाविकता की जड़ लम्बे-लम्बे उलझे हुए वाक्यों की रचना है। जिस लेखक को रंग मंच का थोड़ा भी ज्ञान होगा, वह तुरन्त परख लेगा कि जिस नाटक के वाक्य बोलने में अभिनेता हाँफ जाये और दर्शक उनके आदि-अंत का ही पता लगाता रह जाये, वह नाटक कभी सफल नहीं हो सकता। दुर्भाग्य से अस्वाभाविक वाक्य रचना को कठिन समझकर उससे पाठ्य-क्रम की शोभा भी बढ़ाई जाती है। एक नाटक इन्टरमीडियेट के विद्यार्थियों को पढ़ाया जाता है। इसको अचानक बीच से खोलने पर विक्रममित्र नाम का पात्र यह कहते देखा जाता है—

"यवनों के आक्रमण से जब मालव और शिविगण मूल स्थान के निकट नहीं ठहर सके और मगध की केन्द्रीय मौर्य-शक्ति ने भी अपने कर्तव्य का पालन जब नहीं किया तब उन्हें सिंधु के दक्षिण मध्यनिका और कर्कोटक में शरण लेनी पड़ी। मेघवाहन खारवलि और पितामह वसुमित्र ने सेना साधन में उनकी सहायताकर उन्हें उन्हीं स्थानों में स्थिर किया और आगे बढ़कर भवनों के उस पार शाकल तक पहुँचा दिया।"

इन वाक्यों में 'उन्हें, उन्हीं' और 'स्थान, स्थिर' के जोड़े

दर्शनीय हैं। यदि नाटककार आँख खोलकर लिखने के साथ कान खोलकर अपने वाक्य सुनते भी जायें तो विक्रममित्र से ऐसे अनगढ़ वाक्य न कहलाये। उसी पृष्ठ पर विक्रममित्र महाशय पुन: कहते सुने जाते हैं—

"इन मालवों की सनातन वैदिक विधान में जो आस्था थी, उसने पितामह वसुमित्र को तो प्रभावित किया ही, जैन खारवलि तो उससे इतना प्रभावित हुआ कि उसने मालव महेन्द्रादित्य के साथ अपनी पुत्री सौम्य दर्शना का विवाह कर दिया।" इस वाक्य में 'आस्था' शब्द पर ध्यान दीजिये। यह 'आस्था' कर्त्ता है, उसने वसुमित्र को प्रभावित किया। लेकिन आगे कर्त्ता से बदल कर करण बन गयी और जैन खारवलि उससे प्रभावित हो गया। कर्ता, करण के उलझाव में वाक्य अशुद्ध और अस्वाभाविक बन गया है। छपने पर उसने चार पंक्तियाँ घेरी हैं, यह अलग से।

एक सामाजिक नाटक लीजिये। इसमें नीतिराज "एक समाजवादी युवक; उम्र चौबीस वर्ष" और विमला "एक युवती, उम्र २२ वर्ष" आधुनिक विज्ञान पर बहस कर रहे हैं। नीतिराज कहता है:—

"आखिर आप रमणी हैं न? जिस दिन आप कमल कुसुम के समान वर्तमान सामाजिक पानी की तह से ऊपर उठ आवेंगी, उस दिन यह कह देंगी कि त्यागवाद महान् नहीं हो सकता। जिस त्याग का ढिंढोरा पीटा जा रहा है वह या तो समाज में इस समय जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से किया जा रहा है या वह समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करने के लिये किया जाता है। सारे दान-पुण्य, सत्कर्म कहे जाने वाले कार्य इन्हीं दो कारणों के परिणाम हैं। सारा सामाजिक संगठन ही अवै-

ज्ञानिक नहीं है, यह त्याग की अवैज्ञानिक जो चीज वैज्ञानिक नहीं है, वह महान् हो ही नहीं सकती। मिस विमला, इस युग के दो सबसे बड़े तत्ववेत्ता हैं—डारविन और कार्ल मार्क्स। दोनों ग्रहणवादी हैं।"

बाईस साल की लड़की के धीरज की प्रशंसा करनी होगी। लगभग पूरा पेज सुन जाती है और एक बार भी उस २४ साल के युवक को नहीं टोकती। नीतिराज ने भी, मालूम होता है, कालेज में हिन्दी के नाटक ही पढ़े हैं। इसलिये विमला से कहता है—"आखिर आप रमणी हैं न!" क्या ही अच्छा हो कि कालेज के लड़के सहपाठिनी विद्यार्थियों के लिए ऐसे ही सुन्दर शब्दों का प्रयोग किया करें। "सामाजिक पानी की तह" से ऊपर उठाना भी कमाल है। एक वाक्य में नीतिराज सर्वनामों का प्रयोग भूल गया है इसलिए 'जो धर्म प्रचलित है उस धर्म के भय से,'—बार बार धर्म की दुहाई देने लगता है। 'समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त करना' आदि ऐसे टुकड़े हैं जो नाटक की वाक्य-रचना में ठूँठ जैसे खड़े हैं। नीति राज ने डारविन और काल मार्क्स को ही पानी नहीं दिया, बोलचाल की हिन्दी पर भी पानी फेर दिया है।

नाटकों में इस तरह की शैली ज्यादा दिन नहीं चल सकती। पाठ्य-क्रम में शामिल करने पर भी इस तरह के नाटक हिन्दी के रंगमंच का उद्धार नहीं कर सकते।

आलोचना में गंभीर चिंतन के नाम पर हर तरह की वाक्य रचना क्षम्य समझी जाती है। एक उदाहरण देना ही काफी होगा। "सामाजिक शक्ति के सङ्गठन में परस्पर विरोधी शक्तियों का जो संघर्ष होता है, साहित्य उसका सजीव चित्रणकर यह स्पष्ट कर देता है कि उसमें वह सक्रिय रूप से भाग ले रहा है

और यह कि वह सामाजिक सङ्गठन एक स्थिर वस्तु नहीं है, बल्कि गतिमान और परिवर्तनशील है।" इस बात को और भी सरल ढंग से कहा जा सकता था और इस तरह का वाक्य रचने के लिये गम्भीर चिंतन की दुहाई नहीं दी जा सकती। वाक्य के बेढंगेपन का कारण गम्भीर चिंतन नहीं, अंग्रेजी के 'that' का भद्दा अनुवाद है, 'यह कि वह।'

संक्षेप में हिन्दी की गद्य-शैली को सँवारने के लिये वाक्य रचना पर ध्यान देना सब से ज़्यादा ज़रूरी है। लिखते समय हम वाक्यों को सुनते भी जायें या लिख लेने पर उन्हें जोर से पढ़ कर सुनें-सुनायें जिससे कि उनका अस्वाभाविक प्रवाह तुरन्त मालूम हो जाये और हम उनमें आवश्यक सुधार कर सकें। इसके अलावा संसार की हर भाषा के पुष्ट गद्य का आधार आम जनता की बोलचाल की भाषा रही है। हमें अपनी गद्य-शैली को सबल और समर्थ बनाने के लिये फिर यही आधार कायम करना है। ऐसा करने से हिन्दी भारत की दूसरी भाषाओं से दूर न जा पड़ेगी। यह भय इसलिये पैदा होता है कि हम भारतीय भाषाओं के विकास को ही गलत समझ बैठते हैं। यह विकास संस्कृत की ओर नहीं लौट रहा है बल्कि तद्भव रूपों को अपनाता हुआ भाषा के प्राकृत रूप की ओर बढ़ रहा है—प्राकृत, अपने मौलिक और व्यापक अर्थ में। भारतेन्दु और प्रेमचन्द की शैली इसी विकास की ओर संकेत करती है। हिन्दुस्तान की अधिकांश जनता हिन्दी बोलती है या उसे समझती है। लेकिन हम अपनी गद्य-शैली को उस जनता के बोलने-समझने वाले रूप से बहुत दूर ले आये हैं। इस तरह हिन्दी लोकप्रिय नहीं बन सकती। साक्षरता फैलने पर यह गद्य-शैली बदलेगी। नयी पीढ़ी के लेखकों पर विशेष रूप से यह भार

है कि वे अपनी शैली को इस तरह गढ़ें कि शिक्षा प्रसार में उससे सहायता मिले और देश की कोटि-कोटि जनता के सम्पर्क से वे स्वयं भी अपनी भाषा और साहित्य को समृद्ध बनायें।

२ अक्तूबर १९४७

कुरुक्षेत्र और सामधेनी

कवि दिनकर की ये दोनों कविता-पुस्तकें नयी पीढ़ी के मानसिक संघर्ष का बहुत सुन्दर प्रतिबिम्ब हैं। देश के बुद्धि-जीवियों और लेखकों के मनोदेश में कौन-सी समस्यायें घुमड़ रही हैं और वे किस तरह उनका समाधान पाने की कोशिश कर रहे हैं, यह बात बड़ी खूबी से इन रचनाओं में प्रकट हुई है।

इस युग की सबसे हृदय-विदारक और इतिहास पर गहरा प्रभाव डालने वाली घटना भारत का जनसंहार है। इस आँधी में मनुष्य के तमाम आदर्श, पुरानी मान्यतायें, साहित्य और संस्कृति में प्रतिष्ठित प्रेम और सहानुभूति की सद्भावनायें जीर्ण शीर्ण पत्रों-सी उड़ती दिखाई देती हैं। इस आँधी में विश्वास के दीपक को जलाये रखना बड़ी जीवट का काम है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि इस झंझा में यह दीपक बुझ जायेगा। भारतवर्ष की उर्वरा धरती ने संसार को बड़े-बड़े आदर्श ही नहीं दिये, उनकी रक्षा करने के लिये त्यागी और बलिदानी पुरुष भी दिये हैं। क्या साहित्य और क्या राजनीति, दोनों ही क्षेत्रों में ऐसे व्यक्तियों का अभाव नहीं है जिन्होंने इस झंझा के साथ बहने से इंकार किया है। वे अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उन आदर्शों की रक्षा करने में लगे हैं, जिनके आधार पर साहित्य और राजनीति की परम्परा महान् बनी थी।

नोआखाली और बिहार के हत्याकांड के बाद दिनकर ने लिखा था :—

नारी-नर जलते साथ हाय
जलते हैं मांस रुधिर अपने;

जलती हैं वर्षों की उमङ्ग
जलते हैं सदियों के सपने।
ओ बदनसीब! इस ज्वाला में
आदर्श तुम्हारा जलता है,
समझायें कैसे तुम्हें कि
भारतवर्ष तुम्हारा जलता है?
जलते हैं हिन्दू-मुसलमान,
भारत की आँखें जलती हैं,
आने वाली आजादी की
लो दोनों पाँखें जलती हैं।

ये पंक्तियाँ उस समय लिखी गई थीं जब कि इस भयानक नरसंहार का पहला दौर शुरू हुआ था। हिंसा-प्रतिहिंसा के चक्र में घूमते हुए देश आज कहाँ पहुँच गया है! कवि की बात उस समय भले ही किसी को अत्युक्ति लगी हो लेकिन आज तो उसका अक्षर-अक्षर सच हो रहा है। आदर्श भी जलते हैं, भारतवर्ष भी जलता है; हिन्दू-मुसलमानों के साथ आज़ादी की पाँखें भी जल रही हैं। देश के नेता पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि हिंसा-प्रतिहिंसा की इस चक्की में आज़ादी पिस जायेगी। दिनकर ने लिखा था कि अंधकार के व्यूह से लड़ने के लिये अकेली किरण भी आगे बढ़ेगी। हम वह दृश्य भी देख रहे हैं जब हत्याकांड के समर्थकों के तुमुल कोलाहल के बीच में अनेक-जन अब भी एकता और जनतंत्र की मशाल लिये हुए अटल खड़े हैं।

किसी समय बंगाल के अकाल से दिनकर का हृदय आन्दोलित हो उठा था। उस समय की बेबसी और छटपटाहट

जैसी 'आग की भीख' में प्रकट हुई है, वैसी अन्य कविताओं में कम हुई है। दिनकर लिख सके :—

मन की बँधी उमंगें असहाय जल रही हैं।

फिर भी वह देश के भविष्य के प्रति अपनी आशा को सजीव रख सके थे। दूसरे देशों की जनता के स्वाधीनता-संग्राम से उनकी आशा को बल मिलता है। युद्ध के उपरान्त यूनान की जनता ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद से युद्ध छेड़ दिया था। पच्छिम के इन देशों के जन-जागरण का स्वागत करते हुए कवि ने लिखा था :—

खड़ा हो, कि पच्छिम के कुचले हुए लोग
उठने लगे ले मशाल,
खड़ा हो, कि पूरब की छाती से भी
फूटने को है ज्वाला कराल!
खड़ा हो, कि फिर फूँक विष की लगा
धूर्जटी ने बजाया विषान,
खड़ा हो, जवानी का झंडा उड़ा
ओ, मेरे देश के नौजवान।

दिनकर राष्ट्रीय-गौरव और हमारे स्वाधीनता संग्राम की परम्परा को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आगे बढ़े हैं। इस परम्परा के अन्य कवियों के पाँव कुछ डगमगाने लगे हैं।। उनकी वाणी में स्पष्टता और गंभीरता के बदले जनता में अविश्वास और कभी-कभी तो साम्प्रदायिक द्वेष भी प्रतिध्वनित होने लगा है। दिनकर ने "रसवंती" और "हुन्कार" की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए उदात्त स्वर में कहा है :—

गरज कर बता सबको, मारे किसी के
मरेगा नहीं हिन्द देश,

लहू की नदी तैर कर आ गया है,
कहीं से कहीं हिन्द देश !
लड़ाई के मैदान में चल रहे
लेके हम उसका उड़ता निशान,
खड़ा हो जवानी का झंडा उड़ा
ओ मेरे देश के नौजवान !

यह कविता १६४४ में लिखी गई थी। इस विश्वास को और भी दृढ़ता से अपनाये रहना कि हिन्द-देश दूसरे की हिंसा या अपनी ही प्रतिहिंसा से नष्ट नहीं होगा, आज और भी आवश्यक है। दिनकर उन कवियों में हैं जिन्हें मनुष्य और उसकी शक्ति में विश्वास है। उनके अतिरञ्जित चित्रों के बावजूद यह विश्वास उनके राग का प्रधान स्वर है। उनके स्वर की शक्ति का, उदात्त भाव-व्यंजना का यही मूल स्रोत है।

सच्चा आदर्श कौन सा है ? नयी-पीढ़ी किस धर्म, किस नीति को अपना सम्बल बनाये ? वर्त्तमान युग में समृद्धि के यान्त्रिक साधन तो काफ़ी विकसित दिखाई देते हैं; क्या यह बुद्धि का एकांगी विकास नहीं है ? मनुष्य की सहृदयता और उसकी शुष्क बुद्धि में क्या कभी सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ? कुरुक्षेत्र काव्य की पृष्ठ-भूमि इन्हीं प्रश्नों से बनी है। भीष्म और अर्जुन के द्वारा कवि ने सात सर्गों में इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया है। भूमिका में लिखा है :—

"दर असल, इस पुस्तक में मैं प्रायः सोचता ही रहा हूँ। भीष्म के सामने पहुँच कर कविता जैसे भूल-सी गई हो। फिर भी, कुरुक्षेत्र न तो दर्शन है और न किसी ज्ञानी के प्रौढ़ मस्तिष्क का चमत्कार। यह तो, अंत तक, एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़कर बोल

रहा है। तथास्तु।" यह कहना बड़ा कठिन है कि शंकाकुल हृदय मस्तिष्क पर चढ़ कर बोल रहा है या मस्तिष्क ही शंकाकुल होकर हृदय में खलबली मचाने उतर आया है। पुस्तक पढ़ने से एक बात स्पष्ट जान पड़ती है कि कवि के विचार उलझ गये हैं और जो समाधान भीष्म पहले प्रस्तुत करते हैं, उनका अंतिम समाधान उससे काफ़ी भिन्न है।

बेबसी और छटपटाहट की भावना, भावों की ऐंठन और मसोस जो अकाल और युद्ध संबंधी कविताओं में प्रकट हुई थी, वह कुरुक्षेत्र के सर्वनाश के बहाने यहाँ बारबार आँखों के सामने आती है। मनुष्य की हत्या, उसके रक्तपात से कवि का हृदय झकझोर उठता है। इन्हीं के चित्र बारबार आँखों के सामने आते हैं जिससे मालूम होता है कि कवि के मन में सबसे प्रबल समस्या कौन सी है। द्रौपदी के लिये लिखा है कि युद्ध के उपरान्त क्रोध से दाँत पीस कर,

> "आदमी के गर्म लोहू से चुपड़
> रक्तवेणी कर चुकी थी केश की,
> केश जो तेरह बरस से थे खुले।"

प्रतिहिंसा का यह रूप देखकर पाठक के हृदय में द्रौपदी के लिये सहानुभूति नहीं उत्पन्न होती। पांडवों के शिविर से हर्ष-ध्वनि उठती है लेकिन हवा में लड़खड़ाती हुई फिर वहीं लौट आती है। युधिष्ठिर को इस हर्ष-ध्वनि में भी छिपा हुआ नियति का व्यंग्य सुनाई देता है। उनके कानों तक पुत्रहीन माताओं और विधवा नारियों की पुकार पहुँचती है। जो अपने मारे गये हैं, उनकी याद भी बार-बार सताती है। युधिष्ठिर सोचते हैं कि राज्य छोड़कर बन चले जायें तो शायद यह ग्लानि मिट जाये। दूसरे सर्ग में भीष्म पितामह इसका उत्तर

देते हैं। वे कहते हैं कि कोई भी कर्म अपने आप में पुण्य या पाप नहीं होता। जो युद्ध न्याय के लिये किया गया है, उस पर पश्चात्ताप करना आवश्यक है। धर्म, तप, करुणा, क्षमा आदि के सुन्दर भाव व्यक्ति के लिये हैं लेकिन जब पूरे समाज का प्रश्न उठता है तब हमें तप और त्याग को भूलना पड़ता है। योगियों को ये सब शोभा देते हैं। युद्ध से भय खानेवाले बलहीन कापुरुषों के भी वे सहायक होते हैं। आत्मबल के सहारे देह का संग्राम नहीं जीता जा सकता। तीसरे सर्ग में भीष्म यहाँ तक कह देते हैं कि हिंसा के सामने तपस्या सदैव हारी है और इसलिये दानवों से देवता सदैव हारते आये हैं :—

"हिंसा का आघात तपस्या ने
कब कहाँ सहा है?
देवों का दल सदा दानवों
से हारता रहा है।"

भीष्म युधिष्ठिर से सीधा प्रश्न करते हैं, "तुम्हें मनःशक्ति प्यारी थी तो भरत-राज्य का लोभ करके वन से क्यों लौटे थे?" यहाँ मनःशक्ति और दैहिक पौरुष में एक आंतरिक विरोध देखा गया है। आगे चलकर बुद्धि और हृदय का विवाद, मनुष्य के वैज्ञानिक साधन और उसकी निर्धनता—यह द्वन्द्व और भी स्पष्ट रूप से सामने आया है। यह असंगति क्यों उत्पन्न होती है और उसका समाधान क्या है, यह बात अंतिम सर्ग में कुछ स्पष्ट होती है।

भीष्म को ऐसा लगता है कि करुणा और क्षमा के भाव व्यवहार जगत् में बिल्कुल निरर्थक हैं। वे इन्हें क्लीव-जाति का कलंक कहते हैं और धर्म-युद्ध को पौरुष की जागृति कहते हैं। यदि इस बात से उनके हृदय को संतोष होता तो समस्या

का समाधान बहुत सरल हो जाता। कठिनाई यह है कि युधिष्ठिर के समान वह भी चाहते हैं कि पृथ्वी पर करुणा, प्रेम और अहिंसा फैले :—

"जियें मनुज किस भाँति परस्पर
होकर भाई भाई,
कैसे रुके प्रदाह क्रोध का,
कैसे रुके लड़ाई ?"

इस पुस्तक में एक विवादी स्वर के समान साम्य और बंधुत्व की भावना छन्दों में बार-बार मुखर हो उठती है। यह भावना देश की जनता के उस बंधुत्व की सूचक है जो इतने जनसंहार के बाद भी निष्क्रिय और निष्प्राण नहीं हो पाया। भीष्म के सामने प्रश्न यह है कि आदर्श तो सुन्दर है परन्तु वह पृथ्वी पर उतर नहीं पाता। शान्ति की लता को पाल-पोस कर बढ़ाने वाले द्रव्य इस घृणा और कलह के संसार में मिलते नहीं हैं।

चौथे सर्ग से भीष्म के चिंतन का क्रम कुछ-कुछ बदलने लगता है। महाभारत के संघर्ष में वे सम्पूर्ण भारतवर्ष का विस्फोट देखते हैं। कलह और बैर की अग्नि वर्षों से सुलग रही थी जो महाभारत के रूप में अचानक जल उठी। भीष्म को यह भी अनुभव होता है कि युद्ध के लिये युधिष्ठिर और वे स्वयं दोनों ही उत्तरदायी हैं। जिस दिन जुए में हारने के बाद द्रौपदी का वस्त्र खींचा गया था, उस दिन "तुम हारे, मैं भी हारा,"—दोनों की ही पराजय हुई थी। नारी अपनी रक्षा करने के लिये मनुष्य से निराश होकर देवता को पुकारे, यह देश के पतन का लक्षण है। वे अपने को धिक्कारते हैं कि उनकी "नीति" यह सब अत्याचार देखती और सुनती रही। और अपने तर्क से उनको

तटस्थ रहने के लिये बाध्य करती रही। उनको ऐसा लगता है कि सारा दोष बुद्धि का है। यदि वे "हृदय" की बात सुनते तो उसी समय दुर्योधन को रोकते और युद्ध छिड़ने की नौबत ही न आने देते। वास्तव में दोष बुद्धि का नहीं है वरन् उस नीति-शास्त्र का है जिसमें राजा के नमक खाने को इतना महत्त्व दिया गया था कि नारी की लज्जा भी उसके आगे नगण्य हो जाती थी। भीष्म मानते हैं कि उन्होंने न तो कौरवों का हित साधा, न पांडवों का; अपने ही द्वन्द्व को सुलझाने के लिये उन्होंने कौरवों को दैहिक शक्ति दी और पांडवों को हृदय दिया।

आगे चल कर वे नीति और सहृदयता के संघर्ष को स्पष्ट करते हुए कहते हैं :—

बुद्धि शासिका थी जीवन की,
अनुचर मात्र हृदय था,
मुझसे कुछ खुल कर कहने में
लगता उसको भय था!

× × ×

कर पाता यदि मुक्त हृदय को
मस्तक के शासन से,
उतर पकड़ता बाँह दलित की
मंत्री के आसन से;
राजद्रोह की ध्वजा उठाकर
कहीं प्रचारा होता,
न्याय-पक्ष लेकर दुर्योधन
को ललकारा होता।

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि हृदय पर मस्तक का यह शासन एक ग़लत नीतिशास्त्र के कारण है। मस्तिष्क से ग़लत नीति-

शास्त्र का कोई अभिन्न संबन्ध नहीं है। यदि सही नीतिशास्त्र को अपनाया जाय तो यह मस्तिष्क बनाम हृदय की समस्या हल हो जाती है। राजद्रोह की ध्वजा उठाने का काम बुद्धिवादी होने पर भी किया जा सकता है।

पाँचवें सर्ग में कवि अपने को संक्रान्ति-काल का प्राणी कहता है और बताता है कि शान्ति खोजते हुए जब वह प्राचीन इतिहास की तरफ़ जाता है, तो वहाँ भी पृथ्वी-आकाश में लपटें फैली हुई देख कर सिहर उठता है। वह इतिहास का अंध-भक्त नहीं है। बड़ी मार्मिक व्यथा से वह पूछता है :—

"यह स्वस्तिपाठ है या नव अनल प्रदाहन ?
यह शान्ति-स्नान है या कि रुधिर-अवगाहन ?
सम्राट् भाल पर चढ़ी लाल जो टीका,
चन्दन है या लोहित प्रतिशोध किसी का ?"

युधिष्ठिर और भीष्म दोनों के ही मुँह से कवि एक सुखी शांत संसार की कल्पना को व्यक्त करता है। युधिष्ठिर वरमाला लेकर खड़ी हुई विजयश्री पर दृष्टि नहीं डालते। उसके वस्त्र रक्त से भींगे हुए हैं, आँचल में लपटों की झालर है और काले बादलों में ध्वंस का धुआँ भरा हुआ है। भीष्म के वाक्यों से युधिष्ठिर के हृदय को संतोष नहीं हुआ; इसीलिये पाँचवें सर्ग में वे फिर युद्धोत्तर विभीषिका का मार्मिक वर्णन करते हैं। वीर तो मर चुके हैं, विधवाओं पर शासन करने के लिये युधिष्ठिर और उनके भाई बच रहे हैं। वे मानते हैं कि द्रौपदी का बहाना करके लोभ के लिये ही उन्होंने युद्ध किया था।

छठे सर्ग में विज्ञान द्वारा जुटाये हुए साधन और उनका दुष्प्रयोग, इस कटुसत्य पर कवि ने तीव्र प्रकाश डाला है। वास्तव में इस असंगति का उत्तरदायित्व बुद्धि या विज्ञान पर

नहीं है। हमारी सामाजिक व्यवस्था में जो वर्ग-भेद बना हुआ है, उससे विज्ञान के तमाम आविष्कारों द्वारा मनुष्य का कल्याण करने के बदले शासक वर्ग निहित स्वार्थों की रक्षा के लिये जन-साधारण की हत्या करता है। यह संघष बुद्धि और हृदय का नहीं है; यह संघर्ष दो वर्गों का है जिनमें से एक वर्ग मानवीय विकास के महान् साधनों का दुरुपयोग करके पूरे समाज को पराधीनतापाश में बाँधे रहता है। ऐटम की शक्ति से यातायात के साधन, उत्पादन और वितरण की योजनायें कितनी अधिक उन्नत हो सकती हैं किन्तु उसकी शक्ति उपयोग ध्वंस के लिये ही किया गया है। संयुक्त राष्ट्र सभा में अमरीका से बार-बार इस बात की माँग का गई है कि ऐटम-बमों का प्रयोग युद्ध में वर्जित कर दिया जाये। परन्तु जिस समाज में पूँजी थोड़े व्यक्तियों के पास केन्द्रित है, वहाँ इस तरह के तर्क की कोई सुनवाई नहीं होती। जब तक समाज से यह वर्ग-भेद न मिटाया जायेगा, तब तक साम्य और बंधुत्व के सपने सपने ही रहेंगे। दिनकर ने लिखा है :—

इस मनुज के हाथ से विज्ञान के भी फूल,
वज्र होकर छूटते शुभ-धर्म अपना भूल।

इससे प्रकट है कि विज्ञान के फूलों का धर्म शुभ ही है; यह दोष मनुष्य का है जो इस धर्म को भुलाकर वह विज्ञान का वज्र के रूप में प्रयोग करता है।

सातवें सर्ग में युधिष्ठिर को ज्ञान हुआ और भीष्म ने उन्हीं के मनोभाव को दुहरा कर शंकाओं का समाधान किया। भीष्म कहते हैं कि मनुष्य तो अवश्य मारे गये हैं परंतु इससे मनुष्यता नहीं मर गई। मनुष्य का उद्धार किसी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा नहीं, उसकी मनुष्यता द्वारा ही संभव है। वासना और वैराग्य

के दो कगारों से टकराती हुई मानवता की धारा बहती आई है। लड़ने-झगड़ने के बावजूद मनुष्य अब तक बढ़ता ही आया है। वे युधिष्ठिर से कुरुक्षेत्र का श्मशान छोड़कर मानव समाज को त्याग और बलिदान का नया पंथ दिखाने को कहते हैं। वह घोषित करते हैं कि इस पृथ्वी पर उत्पन्न होने वाले सभी मनुष्य समान हैं और जो शक्तियाँ उनके विकास में बाधक होंगी, वे नष्ट हो जायेंगी। धरती के गर्भ में सब को खिलाने, सबका पालन करने और सबको समृद्ध बनाने के साधन विद्यमान हैं। इन साधनों से यदि समाज का हर व्यक्ति लाभ नहीं उठा पाता, तो इसका कारण सामाजिक विषमता है। वे मनुष्य की शक्ति का गुणगान करते हैं; उसकी—"अन्वेषणी बुद्धि" की भी प्रशंसा करते हैं। ईश्वर ने जिन तत्त्वों को पृथ्वी के गर्भ में छिपा दिया था, उन्हें उद्यमी पुरुष ने अपने श्रम से खोज निकाला है। मनुष्य के श्रम पर बड़ी सुन्दर पंक्तियाँ लिखी गयी हैं। कवि भाग्यवादियों की भर्त्सना करता है और बताता है कि नियति की रट लगाने वाले व्यक्ति सामाजिक अन्याय का समर्थन करते हैं। समाज की सारी अव्यवस्था का आधार श्रम की चोरी है। एक आदमी पसीना बहाता है; दूसरा उस पसीने का फल चखता है।

"एक मनुज संचित करता है
अर्थ पाप के बल से,
और भोगता उसे दूसरा
भाग्य वाद के छल से।
नर समाज का भाग्य एक है
वह श्रम, वह भुजबल है;

जिसके सम्मुख झुकी हुई—
पृथिवी, विनीत नभतल है।"

प्रकृति में जो कुछ धन छिपा हुआ है, उस पर हर मनुष्य का अधिकार है। सबसे अमूल्य धन मनुष्य का श्रम है जिससे सारा समाज समृद्ध हो सकता है। राजा और प्रजा का भेदभाव स्वयं मनुष्य का रचा हुआ है और इसलिये मनुष्य उसे मिटा भी सकता है। जिस समाज में खड्गधारी पुरुष शासक बनकर शान्ति क़ायम रक्खें, उस समाज के सदस्य अभी विकसित मनुष्यता तक नहीं पहुँचे। भाग्यवाद के समान ही संसार-त्याग कर वन में शान्ति खोजना भी शङ्काओं का समाधान नहीं हो सकता। संन्यास खोजना मन की कायरता है। कवि के अनुसार सच्चा मनुष्यत्व जीवन की समस्यायें सुलझाने में है। सन्यासी वन में जाकर भले ही स्वयं सुखी हो जाय लेकिन "कोटि-कोटि मनुजों को सुखी बनाना" इससे कठिन कार्य है। सामाजिक संघर्ष से पलायन करने वालों के प्रति कवि को ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। उसे कोई ऐसा व्योमखण्ड नहीं दिखाई देता जो कर्मरज से भरा न हो। कर्मठ मनुष्य पृथ्वी पर चलता है, कल्पना के आकाश पर नहीं। विरक्ति की भावना "निद्रा को जागर्ति" बताती है और अनस्तित्व को सत्ता कहती है। बुद्धि को वह दुख बताती है और आत्मनाश को मुक्ति कहती है। कवि का तर्क है कि अकर्मण्य जन अमर नहीं बन जाते और न कर्म करने से किसी की आयु कम होती है। अदृश्य और अगोचर को शोध करके विरक्तजन कभी सुधर नहीं सकते। मनुष्य का सुधार कर्म द्वारा ही संभव है। कवि मनुष्य की इन्द्रियों को उसके जीवन का प्रमाण मानता है। वह उन्हें सत्य के लिये घातक नहीं समझता। इस जीवन से बचकर

और कोई दूसरा जीवन पाना दुष्कर है। जो लोग सांसारिक कर्म छोड़कर ध्यान के निर्विकार संसार में निवास करना चाहते हैं, वे अपना या दूसरों का कोई कल्याण नहीं कर सकते। सत्य के शोधक के सामने मानव-समाज की दीनता खड़ी हुई है।

"इसे चाहिये अन्न, वसन, जल
इसे चाहिये आशा,
इसे चाहिये सुदृढ़ चरण, भुज,
इसे चाहिये भाषा।"

भौतिकता की इस कठोर भूमि पर ही सत्य, परमार्थ, ज्ञान और वैराग्य की तमाम समस्यायें सुलझाई जा सकती हैं। मनुष्यता की इति वल्कल या मुकुट में नहीं है। इन दोनों से इतर जनसाधारण के कल्याण में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। कवि की निम्न पंक्तियाँ आज के भारत पर कितनी खरी उतरती हैं :—

"क्षत विक्षत है भरत भूमि का
अङ्ग-अङ्ग बाणों से,
'त्राहि, त्राहि' का नाद निकलता
है असंख्य प्राणों से।
कोलाहल है, महात्रास है
विपद आज है भारी,
मृत्यु विवर से निकल चतुर्दिक
तड़प रहे नर-नारी।"

इसीलिये दिनकर का यह स्वर कि 'मनुष्यता अब तक नहीं मरी है,' एक संबल के रूप में साम्य और बंधुत्व की ओर बढ़ने वाले प्रत्येक पथिक के साथ बँधा हुआ है।

कुरुक्षेत्र के तमाम चिंतन का फल यही निकलता है कि

मनुष्यता ही सत्य है, विद्वेष कलह का प्रसार होते हुए भी वह सब अनित्य हैं। सत्य का स्रोत कर्म की भूमि छोड़कर समाधि की अवस्था में नहीं मिल सकता। मनुष्य का गौरव श्रम करने में है श्रम से ही समाज का संगठन हुआ है। पृथ्वी में मनुष्य की समृद्धि और उसके विकास के अनंत साधन भरे पड़े हैं। उसकी बुद्धि और विज्ञान के प्रसार की कोई सीमा नहीं। लेकिन इन सबका फल उसे तभी मिल सकता है जब वह अपने श्रम का उचित संगठन करे। समाज की व्यवस्था से वर्ग-भेद को मिटा दे और मनुष्य को मनुष्य के ही उत्पीड़न से मुक्त कर दे।

यह मुक्ति देश की आजादी के बिना संभव नहीं है। राष्ट्रीय स्वाधीनता वर्गहीन समाज के निर्माण में एक सीढ़ी है। कुरुक्षेत्र के विचारों में पहले कुछ और बाद को कुछ की जो उलझन दिखाई देती है, उसका कारण इस सम्बन्ध को न समझ सकना है। इसी लिये दिनकर ने दिल्ली और मौस्को के बीच एक पटने वाली दरार की कल्पना की है। हमारा स्वाधीनता-संग्राम संसार की तमाम जनता की आजादी की लड़ाई का ही एक हिस्सा है, यह बात दिनकर की आँखों के सामने साफ़ नहीं है। इसलिये उनके लेखों और कविताओं में जहाँ-तहाँ फूट के स्वर भी फूट पड़े हैं।

(१०-१०-४७)

रिपोर्ताज़

फ़्रान्सीसी भाषा के और बहुत से शब्दों में जो अँग्रेज़ी ही नहीं, योरुप की और दूसरी भाषाओं में भी प्रचलित हो गये हैं, यह एक शब्द रिपोर्ताज़ भी है। इसकी शक्ल और सूरत अँगरेज़ी के रिपोर्ट शब्द से मिलती जुलती है जो हिन्दी में आकर सीधा रपट हो गया है। रिपोर्ट ज्यादातर अखबारों के लिये लिखी जाती है, रपट ज्यादातर पुलिस या दूसरे सरकारी अफसरों के लिए। यह सभी लोग जानते हैं कि रपट में नमक-मिर्च इतना होता है कि वस्तु-तत्त्व उसकी तेजी से निस्तत्व हो जाता है। अखबारी रिपोर्टों में वस्तुतत्त्व का बिल्कुल अभाव तो नहीं होता, फिर भी काफी चरफरापन न हो तो लोग अखबार पढ़ना छोड़ दें। रिपोर्ताज़ रिपोर्ट का ही साहित्यिक रूप है लेकिन उसका अन्तःकरण साहित्य की श्रेणी में आने से शुद्ध होता है।

किसी घटना या घटनाओं का ऐसा वर्णन करना कि वस्तुगत सत्य पाठक के हृदय को प्रभावित कर सके, रिपोर्ताज़ कहलायेगा। कल्पना के सहारे कोई रिपोर्ताज़ लेखक नहीं हो सकता। इसे लिखने की कला इस महायुद्ध में विशेष रूप से विकसित हुई है। साहित्य का यह सबसे लचीला रूप है जिसकी सीमा एक पृष्ठ से लेकर कई सौ पृष्ठों की मोटी पुस्तक तक हो सकती है। वर्त्तमान पत्रकार-कला से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। पत्रों में जैसे लम्बे उपन्यास एक साथ नहीं छप सकते, वैसे ही उनमें बहुत लम्बी रिपोर्ताज़ भी नहीं छप सकती। इसकी सीमायें कहानी और निबन्ध से मिलती जुलती हैं और इन दोनों से

इसका भावात्मक सम्बन्ध है। रिपोर्ताज़ में जब तक एकाध छोटी कहानी न हो, वह काफी रोचक नहीं होता। परन्तु कहानी ज्यादातर एक ही घटना को लेकर चलती है और उसी को केन्द्र मानकर पात्रों का चरित्र अंकित किया जाता है। रिपोर्ताज में एक से अधिक घटनाएँ हो सकती हैं, लेखक का लक्ष्य इनके सम्मिलित प्रभाव की ओर रहता है। वह कहानीकार की तरह किसी "समस्या" को लेकर नहीं चलता न कहानी के अन्त में समस्या के विचित्र समाधान से पाठकों को आश्चर्य में डाल देना चाहता है। वह लेख के आरम्भ से ही छोटी-छोटी बातों की ओर यों ध्यान आकर्षित करता है कि इन सब से मिलकर एक वृहत चित्र बन सके। चरित्र-चित्रण के लिये कहानीकार के पास ही कम जगह होती है, रिपोर्ताज़-लेखक के पास तो और भी कम। वह रेखा-चित्रकार की तरह ब्रुश के इशारे से चित्र को उभार कर आगे बढ़ चलता है। उसे इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता है कि वह अपने लेख को घटना-प्रधान बनाये या चरित्र-प्रधान, वह उसमें नाटकीयता का ज्यादा पुट दे या गीतात्मकता का। उसके लिये सबसे ज्यादा जरूरी बात यह है कि वह जिस बात पर कलम उठाये, उसे खुद अपनी आँखों और कानों से देख सुन चुका हो।

यदि हम अखबार लेकर पिछले कई महीने की घटनाओं पर एक भावपूर्ण निबन्ध लिख डालें, तो वह रिपोर्ताज़ न होगा, वह रिपोर्ट भले हो। आँखों से देखने पर भी यदि केवल वस्तु-गत सत्य का शुष्क वर्णन हुआ तो भी उसे रिपोर्ताज न कह सकेंगे। जो पत्रकार सिर्फ रिपोर्ट लिखना जानते हैं वे रिपोर्ताज़ लेखक नहीं हो सकते। जो लेखक घर में बैठे कल्पना के सहारे साहित्य रचा करते हैं, उन्हें भी इस ओर सफलता पाने के लिये

अपना पुराना क्रम छोड़ना होगा। रिपोर्ताज़-लेखक के लिये ज़रूरी है, कि वह आधा पत्रकार हो और आधा कलाकार हो। वह अपने चारों ओर के गतिशील जीवन की वास्तविक घटनाओं का इतिहासकार है। इसलिये वह अपना काम घर में बैठे-बैठे नहीं कर सकता।

जिस देश में लेखकों को इतनी सुविधा होगी कि वे अपनी इच्छानुसार जहाँ तहाँ भ्रमण कर सकें और जो कुछ लिखें, उस से उन्हें जीविका के लिये काफी पैसा भी मिल सके, वहीं इस तरह के साहित्य का विशेष रूप से विकास हो सकता है। सोवियत् रूस में प्रकाशन का कार्य पूँजीवादियों के हाथ में नहीं है, इसलिये लेखकों को अपनी रचनाओं से जीविका के लिये काफी पैसा ही नहीं मिल जाता बल्कि समाज के दूसरे लोगों की अपेक्षा ज्यादा धन भी मिल जाता है। वे अपनी आवश्यकताओं के अनुसार जहाँ चाहें भ्रमण कर सकते हैं और अपने अनुभव के बल से सजीव साहित्य लिख सकते हैं। पिछले महायुद्ध में सोवियत् लेखकों ने कलाकार के उत्तरदायित्व को कितना समझा और कितना निबाहा, यह उनके साहित्य से प्रगट है। लड़ाई का कोई ऐसा मोर्चा नहीं था जहाँ लेखक भी न पहुँचे हों। पत्रकारों को जाने दीजिये। जाने-माने लेखक साहित्य की प्रेरणा के लिये मोर्चे पर पहुँचते थे। साहित्य के जिस रूप का इन्होंने सब से ज्यादा विकास किया, वह था रिपोर्ताज़। इलिया एरनबुर्ग ने लेखकों की कठिनाइयों का ज़िक्र करते हुए लिखा है कि सजीव साहित्य की रचना के लिए उन्हें मुसीबतों का ज़रूर सामना करना पड़ता है लेकिन उन्हें याद रखना चाहिये कि लाल फौज के सिपाहियों को मुसीबतों का ही नहीं मौत का सामना भी करना पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि

कई सोवियत लेखकों ने साहित्य को अपने प्राणों से भी ज्यादा महत्वपूर्ण समझा और दूसरे सिपाहियों की तरह वे अपने मोर्चे पर डटे रहे। कई लेखकों की जानें भी गयीं परन्तु उन लोगों ने जो रिपोर्ताज लिखे हैं, उनमें महायुद्ध का सजीव-साहित्य और इतिहास दोनों हैं।

लेनिनग्राद् पर महीनों तक बम-वर्षा होती रही लेकिन वृद्ध लेखक तिखोनोव ने शहर छोड़ने का नाम नहीं लिया। सर्दी के दिनों में वह बर्फ से ढके हुए मैदान और लेनिनग्राद के वीर नर-नारियों के आत्म-रक्षा के प्रयत्न देखता था। उसने इन सबके अमर चित्र अंकित किये हैं। सबसे ज्यादा रिपोर्ताज लिखने का श्रेय इलिया एरनबुर्ग को है। महायुद्ध में वह सोवियत् संघ का सबसे लोकप्रिय लेखक रहा है। उसके लेखों से मालूम होता था कि वह लाल फौज के साथ आगे बढ़ रहा है और उसके प्रभावपूर्ण शब्द सैनिकों की ही ललकार हैं। ऐसे तीव्र व्यंग का लेखक कम से कम पिछले दस वर्षों में दूसरा नहीं रहा। दर्जनों भाषाओं में उसके लेख अनुवादित हुए हैं और सोवियत् संघ में तो वे न जाने कितने पत्रों में छापे जाते थे और कितने रेडियो स्टेशनों से विस्तार किये जाते थे। अभी हाल में एरनबुर्ग अमरीका गया था; वहाँ के जीवन के जो शब्द-चित्र उसने दिये हैं, वे इतने मनोरञ्जक हैं कि उन्हें संसार के पचीसों दैनिक पत्रों ने छापा था। वह एक महान उपन्यास-कार भी है और अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'पेरिस का पतन' के लिये उसे सोवियत-संघ का सबसे बड़ा पुरस्कार मिल चुका है। इस उपन्यास में रिपोर्ताज-लेखक की छाप मौजूद है और उसकी सजीवता का यह भी कारण है कि एरनबुर्ग ने आँखों देखी घटनाओं का वर्णन किया है।

अन्य सोवियत् उपन्यासकारों में भी ऐसा ही प्रभाव दिखाई देता है। यह कोई अचरज की बात नहीं है कि बहुत से लेखक ऐसे हैं जिन्हें उपन्यास और रिपोर्ताज लिखने में समान रूप से सफलता मिली है। वासिली ग्रोसमन, वान्दा वासीलेव्स्का, सिमोनोव, शोलोखोव आदि के उपन्यासों में पच्चीसों ऐसे टुकड़े हैं जिन्हें निकाल कर अलग छाप दें तो वे रिपोर्ताज़ के बड़े अच्छे उदाहरण मालूम होंगे। इन्हीं में ऐसे लोग भी हैं जिन्होंने जलते हुए स्तालिनग्राद् और वोल्गा पर उसकी लाल छाया के अमर चित्र अंकित किये हैं। ग्रोसमन और सिमोनोव ने अपनी वर्णनात्मक शैली से रूस के पुराने लेखकों की परम्परा को सुरक्षित रखा है। इनके छोटे लेखों में भी वह 'एपिक टच' है जो गोर्की और तोल्सतोय में मिलता है। इनमें घटनाओं की नाटकीयता, साधारण पात्रों की असाधारण वीरता आदि के चित्रों में सोवियत् ज़नता के दृढ़ निश्चय, उसके साहस और बलिदान का चित्र मिलता है। किन कठिनाइयों में यह लोग अपने साहित्य की सामग्री एकत्र करते थे, इसका परिचय यूजिनी क्रीगर के एक रिपोर्ताज का अंश उद्धृत करने से मिल जायगा। स्तालिनग्राद् से चलते हुए उसने एक घटना का वर्णन किया है :—

"स्तालिनग्राद् के घेरे का प्रभाव मेरे मन में एक बूढ़े मल्लाह के कारण अमिट बन गया है। घटना रात को हुई थी। न अब किसी को उसकी सूरत याद है, न उसका नाम मालूम है। नाव के ऊपर एक बम फूट पड़ा। उस पर जितने लोग बैठे थे, वह सब नदी में लुढ़क पड़े। एक नौजवान लैफ्टिनेंट भारी लबादा पहने था। उसके बोझ से वह डूबने लगा। बूढ़े मल्लाह ने उसका कालर पकड़ लिया और तेजी से अपना लाइफ-बेल्ट

उस के सामने बढ़ा दिया। "लो इसका सहारा लो"—उसने कर्कश आवाज में कहा। लैफ्टिनेंट चुपके से बह जाने की कोशिश करने लगा। बूढ़ा मल्लाह चिल्लाया, "अरे बेवकूफ, मेरी बाँह तो टूट गयी है। अब बूढ़ा हो गया हूँ, जो कुछ करना था कर चुका, अब तेरी बारी है। यह लाइफबेल्ट ले और शहर के लिये लड़।" वह लाइफबेल्ट छोड़कर एक हाथ से तैरता हुआ दूसरी तरफ़ को निकल गया और रात के अंधेरे में खो गया।"

इस उद्धरण से रिपोर्ताज-लेखक का उत्तरदायित्व और उसकी कठिनाई का परिचय मिल जाता है। वीरों का वर्णन करने के लिये थोड़ी वीरता लेखक में भी होनी चाहिये, नहीं तो वह रीतिकालीन कवियों की वीरगाथा ही लिख सकेगा।

इस महायुद्ध के समय और उसके बाद भी हमारे देश में बड़ी-बड़ी लोमहर्षक घटनाएँ हुई हैं। बंगाल के लाखों स्त्री-पुरुषों ने जान से हाथ धोये। इस विभीषिका के अनुकूल हिन्दी में प्रभावपूर्ण रिपोर्ताज नहीं लिखे गये किन्तु जो लोग वहाँ गये थे, उन्हों ने साहित्य को एक स्थायी निधि दी है। चटगाँव के बारे में उर्दू के प्रसिद्ध कवि अली सरदार जाफरी ने एक सुन्दर रिपोर्ताज लिखा था। अकाल और युद्ध से फायदा उठाकर ठेकेदारों ने मानवता के साथ कैसा वीभत्स खिलवाड़ किया था; इसका रोषपूर्ण चित्रण अली सर्दार ने किया है। अकाल के समय प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार चित्तप्रसाद चटगाँव गये थे। थोड़े से शब्दों में उन्होंने जनता की नारकीय यातनाओं का दृश्य उपस्थित कर दिया है। उसका एक अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं—"मैंने उस स्त्री से उसका नाम पूछा तो वह फूट फूट कर रोने लगी। हिचकियों के बीच में कभी कभी कुछ शब्द भी उसके

मुँह से निकल रहे थे, पर इतने धीमे कि उन्हें सुनना असम्भव था। उसके बदन पर कपड़े की एक धज्जी भी नही थी। पास खड़े एक आदमी ने बताया कि वह मौयश खाली गाँव के एक मुसलमान किसान की पत्नी है और अब पागल हो गयी है।"

"कौक्स बाजार में आधे दर्जन से अधिक गुप्त रंडी-खाने हैं। उनके ठेकेदारों के दलाल गिद्ध की तरह शहर की सड़कों पर निराश्रित स्त्रियों की तलाश में घूमते रहते हैं। किसान स्त्रियाँ जब मजूरी कर के अपना पेट नहीं भर पातीं तो इनमें से किसी के फंद में पड़ जाती हैं और कुछ दिन बाद इस हालत में पहुँच कर रंडी-खाने से निकलती हैं।"

"पास बैठा बच्चा अनाथ है। बाप मछुआ था, पिछले अकाल में मर गया। जब माँ उसका पेट न पाल सकी तो वह भी उसे बाजार में छोड़कर कहीं चली गयी।"

रिपोर्ताज लिखने के लिये जनता से सच्चा प्रेम होना चाहिये। वैसे तो साहित्य के सभी रूपों के लिए यह शर्त्त है लेकिन रिपोर्ताज के लिये वह और भी जरूरी है। जिन्होंने अकाल और महामारी की चिन्ता न करके जनता के बीच में जाकर उसके दुख-दर्द की सही तसवीर खींचना साहित्य का ध्येय समझा है, वही अच्छे रिपोर्ताज़ लिख सके हैं।

अकाल और युद्ध के बाद सारी दुनियाँ के साथ हिन्दुस्तान भी बदला है। अब लोग सड़कों पर भूख से तड़पकर जान नहीं देते; वे सड़क पर आकर मजबूत मुट्ठियाँ बाँध कर साम्राज्यवाद को चुनौती देते हैं। बंबई में जहाजी सैनिकों ने विद्रोह किया और सन् सत्तावन के बाद पहली बार तोपों का मुँह दूसरी तरफ घुमाया गया। आजाद हिन्द फौज के लिये विराट् प्रदर्शन हुए और उनमें जनता ने गोलियों का सामना किया। काश्मीर

के विद्रोह ने देशी राज्यों की जनता को आज़ादी का रास्ता दिखाया। इसमें सन्देह नहीं कि आज देश में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो रहे हैं। दुनियाँ के लिये क्रान्ति अब कोई नयी चीज़ नहीं रह गयी। अन्य देशों में इसके जो लक्षण देखे गये थे, वे आज हमारे देश में भी हैं। हिन्दी के साहित्यकार इस विद्रोही जनता के साथ बढ़कर ही अपने साहित्य की गौरव पूर्ण परम्परा की रक्षा कर सकते हैं। जहाज़ी सैनिकों के विद्रोह पर उर्दू के प्रसिद्ध लेखक कृष्णचन्द्र ने गुण्डा नाम की सुन्दर कहानी लिखी थी। अनेक घटनाओं और वर्णन की प्रधानता होने से इसका रूप कहानी से अधिक रिपोर्ताज़ का है। आज तो इस तरह के वीरतापूर्ण कार्य हर शहर और देहात में देखने को मिलते हैं। 'कला कला के लिये' की रट छोड़ कर साहित्य को जीवन से सम्बन्धित करने का यही तरीका है कि लेखक आज के विद्रोह के इतिहासकार बनें। उनकी कला के लिये क्या सम्भावनाएँ हैं, वे अपने देश के प्रति किस तरह अपना कर्त्तव्य निबाह सकते हैं, इसका एक उदाहरण देकर हम यह लेख समाप्त करते हैं।

गुलाम मुहीउद्दीन कश्मीर की राष्ट्रीय कान्फ्रेन्स की सैनिक-समिति के अध्यक्ष हैं। राज्य की ओर से उन्हें पकड़ने के लिये काफी बड़ी रकम इनाम के लिये घोषित की गयी है लेकिन वह जनता में छिपे हुए फरार का जीवन बिता रहे हैं। फरारी की हालत में भी उनकी कलम चलती जाती है और वह देशवासियों को विद्रोही कश्मीर के प्रति उनके कर्त्तव्य की याद दिलाते हैं। 'ज़ख्मियों की आवाज़, से हम एक अंश देते हैं—'और उस बच्चे की आँखें तो मैं कभी भूल न सकूँगा। उसका नाम असदुल्ला है। वह अभी पूरे बारह वर्ष का नहीं हुआ था कि काक की एक

गोली सीधे उसके सीने में बैठ गयी। उसके बदन में अब इतनी शक्ति भी नहीं रह गयी है कि वह तकलीफ से कराह सके। वह गरीब माँ-बाप का बेटा है। इसलिये बचपन में खेलने खाने की उम्र थी तब उसे एक दर्जी के यहाँ नौकर होना पड़ा। घर वालों को उम्मीद थी, असद दर्जी का काम सीख लेगा तो कुछ घर का खर्च संभालेगा। पर उनकी उम्मीदें पूरे होने के पहले ही डायन डोगराशाही असद के खून की प्यासी हो गयी। शेरे कश्मीर की गिरफ़्तारी के बाद श्रीनगर में जो पहली सभा हुई उसी में असद डायन का शिकार हो गया।

'बारह साल का बच्चा था, शायद राजनीति की बातें बिलकुल नहीं जानता था। मगर वह इतना ज़रूर जानता था कि वह गरीब है, उसके आस-पास रहने वाले तमाम लड़के गरीब हैं, और उन्हें भरपेट खाने को भी मयस्सर नहीं होता।

'और वह यह भी जानता है कि अफसर जो लोगों को पकड़ते हैं, और पुलिस वाले जो निहत्थों पर डण्डे चलाते हैं, वे उसकी दुनिया कभी नहीं बदल सकते।

'असद और उसके जैसे तमाम ग़रीब और भूखे लड़कों की सारी उम्मीदें बस एक लफ़्ज शेरे कश्मीर के साथ बँधी हैं। वे जानते हैं शेरे कश्मीर और उसके साथी भी असद की तरह गरीब हैं, वे भी उन्हीं गलियों में रहते हैं जिनमें असद के माँ-बाप रहते हैं, और वह भी वही मोटा चावल खाते हैं, जिस से असद के घर पर लोग पेट भरते हैं।

'इसलिये जब शेरे-कश्मीर बोलते हैं, या उनके साथी सभा करते हैं, तो असद और उसके जैसे तमाम बच्चे उन्हें सुनने के लिये इकट्ठे होते हैं। उन्हें मालूम है कि इस जुर्म की सजा गोली

हो सकती है—पर उससे क्या ? कश्मीर में भूखे और गरीब बच्चों की कमी नहीं है।'

इन शब्दों में वही आग है जो हर देश भक्त लेखक के शब्दों में होनी चाहिये। कश्मीर की जनता मुहीउद्दीन के शब्दों से प्रभावित होती है, उनकी देशभक्ति पर विश्वास करती है, निरंकुशता को मिटा कर एक नई दुनिया बसाने के लिए वह बलिदान के लिए तैयार होती है। इसलिये अपनी जान की पर्वाह न करके वह मुहीउद्दीन को अपने बीच में छिपाती है। नए राष्ट्र के नये साहित्य का ऐसे ही निर्माण होता है।

शास्त्र और समाज

पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने 'विचार और वितर्क' में वर्तमान समाज की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शास्त्र को उसके अनुकूल बनाने की चेष्टा की है। हमें देखना है कि वर्तमान समाज की ये आवश्यकताएँ क्या हैं और शास्त्र कहाँ तक उनके अनुकूल हो सकता है।

'विचार और वितर्क' में एक तरह के लेख मध्यकाल और वैष्णव कवियों के ऊपर हैं, दूसरी तरह के लेख कुछ आधुनिक कवियों और लेखकों पर और कुछ संस्कृत साहित्य पर हैं। तीसरी तरह के चिन्तन-पूर्ण लेख अपने ढंग के निराले हैं। जैसे 'जब कि दिमाग खाली हो और दिल भरा हो'। आधुनिक साहित्यकारों में प्रसादजी, आचार्य द्विवेदी, प्रेमचन्द आ जाते हैं। चिन्तनशील लेखों में काल्पनिक चित्रों की बहुतायत है और इन्हीं के द्वारा लेखक अपनी बात समझाता है। कुल मिलाकर यह संग्रह जैसा विचारोत्तेजक है, वैसा ही वैचित्र्यपूर्ण और सरस भी है। इसमें कुछ निबन्ध श्री व्योमकेश शास्त्री के हैं लेकिन वे कौन से हैं, इसका उल्लेख नहीं किया गया।

हिन्दी के आलोचना-साहित्य से जिन पाठकों का थोड़ा भी परिचय है, वे जानते हैं कि द्विवेदीजी मध्यकालीन वैष्णव कवियों के परम भक्त हैं। उनकी रचनाओं से यह स्पष्ट है कि उनके मध्यकालीन साहित्य के आकर्षण का कारण आध्यात्मिक न होकर सामाजिक है। इन्हीं वैष्णव कवियों ने शास्त्र-सम्मत समाजव्यवस्था को धक्का देकर मनुष्यमात्र की महत्ता की घोषणा की थी। द्विवेदीजी ने इस तथ्य का यथेष्ट निर्लिप्त भाव से विवे-

चन किया है। उनके चिन्तन को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि उनका मानसिक विकास शास्त्र और प्राचीन रूढ़ियों की चहारदीवारी को तोड़ता हुआ नवीन समाज-हितकर लक्ष्य की ओर बढ़ता गया है। इसीलिए जिन लेखों में भक्तिपूर्ण भावुकता अधिक है, उनके बारे में सन्देह होने लगता है कि ये व्योमकेश शास्त्री के तो नहीं हैं।

'हिन्दी का भक्त साहित्य' नाम के निबन्ध में द्विवेदीजी ने मध्यकालीन समाजव्यवस्था का उल्लेख किया है। इस व्यवस्था में यह गुण था कि वह अपनी चीज़ों को बाहर फेंक सकती थी लेकिन बाहर की चीज़ को अपने अन्दर न समेट सकती थी। इस तरह समाज के बहिष्कृत लोगों द्वारा नयी-नयी जातियाँ बनती जाती थीं; लेकिन, 'अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रक और ब्राह्मण से चण्डाल तक सबको धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दंडित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था।' इस भूमिका के साथ वैष्णव कवियों के साहित्य का अध्ययन करने की ज़रूरत है। हिन्दी के अधिकांश आलोचक मुस्लिम समाज के उस एक रूप को भूल जाते हैं जो जनतांत्रिक भी था। गोस्वामी तुलसीदास और अन्य भक्त कवियों का महत्त्व घोषित करते हुए वे कहते हैं कि इन्होंने इस्लाम के आक्रमण से हिन्दू समाज की रक्षा की। शास्त्रों की निरंकुशता और उनके एकच्छत्र शासन को चुनौती देकर हिन्दू

समाज में जनवादी भावनाएँ फैलाकर उन्होंने उसकी रक्षा की। परन्तु इन आलोचकों के विचार से भक्त कवियों ने उसी प्राचीन समाजव्यवस्था की रक्षा की जो भीतर से खोखली होने के ही कारण अब ज्यादा दिनों तक जीवित न रह सकती थी। हो सकता है कि इस्लाम के प्रचार का कारण उसका जनतांत्रिक रूप था जो मध्यकालीन वर्णाश्रम धर्म की अपेक्षा मनुष्य के मनुष्यत्व को मानने के लिए तैयार था। आज के विषम वातावरण में अपने "विरोधियों" की उन बातों को हम स्वीकार नहीं करना चाहते जिनसे हमारा हित भी हो सकता है। अपने भक्त कवियों को धर्म का ऐसा कवच पहनाकर खड़ा करते हैं मानो उनका आविर्भाव धार्मिक विद्वेष बढ़ाने के लिए ही हुआ हो, मानो हिन्दू समाज में ऐसे अवगुण न रहे हों जिन्हें दूर करना ज्यादा आवश्यक था, मानो इन सन्त कवियों में हिन्दू और मुसलमान दोनों ही न रहे हों! जिन मुसलमान सन्तों ने हिन्दू संतों के स्वर में स्वर मिलाकर बानी कही है, उनके लिये तो हम यह समझ लेते हैं कि ये तो नाम के मुसलमान हैं, काम तो सब हिन्दुओं के हैं। शायद बहुत से धार्मिक पाठकों के कोमल हृदय को यह पढ़कर धक्का लगेगा कि प्रसिद्ध संत दादू का वास्तविक नाम दाऊद था।

द्विवेदीजी ने हिन्दुस्तान की उन दलित-पीड़ित जातियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो अपनी सजीवता के बल पर कबीर, रज्जब आदि सन्तों को जन्म दे सकी थी। उन्होंने इस बात की भी सिफारिश की है कि किन परिस्थितियों में भक्ति-आन्दोलन शुरू हुआ, इस बात को जानने का मुख्य साधन इन्हीं जातियों के लोकगीत, कथानक और लोकोक्तियाँ हैं। दुर्भाग्य से इस ओर अभी काम नहीं हुआ। इसका कारण

साहित्य के प्रति हमारा अध्यात्मवादी दृष्टिकोण है। हम समझते हैं कि कबीरजी ने समाधि लगायी और बस, अनहद नाद सुनने लगे। वह तो फकीर हैं जिन्होंने समाज और दुनिया से नाता तोड़ लिया है, उन्हें समझने के लिए नीची और अछूत जातियों के रीति-रिवाज, उनके गीत और कहावतें जानने की क्या जरूरत है? अगर पढ़ें भी तो मनुस्मृति और योगदर्शन पढ़ना चाहिए। हम यह भूल जाते हैं कि इन सन्त कवियों ने शास्त्रों को जो चुनौती दी थी, उसका आधार समाज के निम्न वर्गों की दबी और कुचली हुई जनवादी परम्परा थी।

शान्तिनिकेतन के प्रसिद्ध आचार्य और वैष्णव साहित्य के अद्वितीय ज्ञाता श्री क्षितिमोहन सेन के 'दादू' ग्रन्थ की आलोचना करते हुए द्विवेदीजी ने बताया है कि चालीस वर्षों तक गाँवों की यात्रा करके उन्होंने सन्त-वाणियों का संग्रह किया है। उनके इस अध्यवसाय और तपस्या के प्रति अभी हम लोगों ने कृतज्ञता भी प्रकट नहीं की। उन्होंने जो शोधकार्य किया है, उससे प्रेरणा पाकर हम अन्य सन्तों और साहित्यकारों के बारे में शोध करें, यह तो बहुत दूर की बात है। हमसे अभी इतना भी नहीं हुआ कि हम उन्हीं के कार्यों से हिन्दी-भाषियों को परिचित करायें। आचार्य सेन ने यथासम्भव संगृहीत ग्रन्थों की अपेक्षा जीवित लोगों के मुँह से बानी सुनकर उन्हें एकत्र किया है। अपनी आलोचना के अन्त में द्विवेदीजी ने श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर से एक लम्बा उद्धरण दिया है जिसमें वैष्णव कवियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। महाकवि ने वर्तमान समाज की तुलना रेगिस्तान से की है लेकिन याद दिलाया है कि शुष्क धरती के नीचे भी जल बहा करता है। 'मर्मी कवियों की वाणी का स्रोत समाज के अगोचर स्तर में बह रहा

है। शुष्कता के बन्धन को तोड़ने का सच्चा उपाय उस प्राणमयी धारा में ही है।'

यह समझना भूल होगी कि द्विवेदीजी प्राचीन शास्त्रीय परम्परा के विरोधी हैं। वास्तव में उन्हें उस पर ज़रूरत से ज्यादा अभिमान है। 'पंडितों की पंचायत' में उन्होंने एक ऐसी सभा का ज़िक्र किया है जिसमें एकादशी के बारे में बहस हो रही थी। इस घटना से शुरू करके उन्होंने प्राचीन गणित और ज्योतिष पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने बताया है कि म्लेच्छ और यवन कहे जानेवाले गणितज्ञों से भारतीय ज्योतिष ने बहुत कुछ लिया है। शास्त्रों की टीकाएँ और तिलक करने की परिपाटी की उन्होंने निन्दा की है परन्तु यह माना है कि वह बिल्कुल गलत नहीं थी। नयी सभ्यता और नये विचारों के सम्पर्क से भारतीय चिन्तन में उथल-पुथल हुई। उनका विचार है कि भारतीय संस्कृति की परम्परा इतनी पुष्ट है कि इस उथल-पुथल से उसका कुछ भी न बिगड़ेगा। वह कहते हैं—'मेरे सामने छः हज़ार वर्षों की और सहस्रों योजन विस्तृत देश की विशाल संस्कृति खड़ी है, उसके इस वृद्ध शरीर में ज़रा भी बुढ़ापा नहीं है, वह किसी चिर नवीन प्रेरणा से परिचालित है। उसके मस्तिष्क में सहस्रों वर्षों का अनुभव है, लेकिन थकान नहीं है, उसकी आँखों में अनादि तेज झलक रहा है, पर आलस्य नहीं है! वह अपूर्व शक्ति और अनन्त धैर्य को अपने वक्ष-स्थल में वहन करती आ रही है।' इन वाक्यों के ऊपर उनकी टिप्पणी हम बगल के दूसरे लेख 'जब कि दिमाग़ खाली हो' में देख सकते हैं। एक पठान हींगवाला गुरुदेव के बारे में प्रश्न करता हुआ कहता है—ईसाई भी नहीं, मुसलमान भी नहीं, तो फिर क्या हिन्दू हैं? द्विवेदीजी अफ़सोस के साथ कहते हैं कि पाणिनि

की सन्तान आज हींग बेचती है और उसके पूर्वजों की सर्वश्रेष्ठ वस्तुएँ उसके लिए त्याज्य हैं। वह सोचते हैं कि एक समय था जब कि इस जाति की संस्कृति महापर्वतों को लाँघकर और महा-समुद्रों को तैरकर भी विजय-ध्वजा फहरा सकी थी। उन्हें भरोसा है कि 'अभी रक्त तो बचा है।' आज नहीं तो कल वह अपना प्रभाव फैलायेगा ही। इससे प्रकट है कि अपनी प्राचीन संस्कृति की जिस तेजोमय मूर्ति की उन्होंने कल्पना की थी वह काफ़ी धुँधली हो गयी है। उन्हें इस बात से दिल को तसल्ली देनी पड़ रही है कि आर्य रक्त एक दिन अपना असर दिखायेगा ही। जब कि आर्य रक्त का यह रंग है कि किसी की खोपड़ी मंगोल है तो नाक द्रविड़ों जैसी है। ओंठ नीग्रो जैसे हैं तो पूर्ण आकार-प्रकार एकदम समन्वयवादी है।

द्विवेदीजी ईमानदारी से कहते हैं कि आज की स्थिति उसी समृद्ध मध्यकालीन सभ्यता का परिणाम है जिसमें एक ओर शासक-वर्ग के लिए रमणी के स्पर्शमात्र से अशोक खिल पड़ते थे, भूर्ज-पत्रों पर उसके लिए किन्नर-वधुएँ अनंग-लेख लिखती थीं लेकिन दूसरी ओर 'उसके जनपद पंगु थे।' काव्य और कामसूत्र शासक-वर्ग के लिए लिखे गये, पुराण और स्मृतियाँ जनपद-निवासियों के लिए। 'एक विलासिता की ओर खिंचता गया, दूसरा शास्त्रवाक्यों की ओर। एक रस का आश्रय बनता गया, दूसरा मज़ाक और अवहेला का विषय। खाई बढ़ती गयी। हूणों ने इसका फ़ायदा उठाया, शकों ने फ़ायदा उठाया, तातारों ने फ़ायदा उठाया, मुसलमानों ने फ़ायदा उठाया, अंग्रेज़ों ने फ़ायदा उठाया और खाई बढ़ती ही गयी, बढ़ती ही गयी।' जब हम अपनी प्राचीन संस्कृति के विराट् तेजोमय शरीर की कल्पना से पुलकित हो उठें और जब भूर्ज-पत्रों के अनंग-लेख

और अलका के अलक्तक से रँगे हुए मार्ग हमारे हृदय में रस-संचार करें, तो हमें यह न भूल जाना चाहिए कि इस रस-संचार ने समाज के एक बहुत बड़े वर्ग और शासकों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर पैदा कर दिया था। हिन्दुत्व के किले की रक्षा का प्रबन्ध यों किया गया कि बड़ी-बड़ी बुर्जों के बीच में दीवाल तोड़कर खाईं बना दी गयी। इसका एक रोज कचोट के साथ अभी-अभी अनुभव हुआ, अमृतबाजार पत्रिका में यह समाचार पढ़कर कि बाँदा जिले में गल्ला-वसूली के सिलसिले में पाणिनि और समुद्रगुप्त के वंशजों को मानव-मूत्र पिलाया गया। उस परम्परा को सुरक्षित रखने के लिए हम कितने उत्सुक हैं, यह इसी बात से प्रकट है कि इन जल्लादों के लिए हमारे "प्रतिनिधि" लम्बी-लम्बी रकमें पास करते जा रहे हैं जब कि स्कूल के मामूली शिक्षकों के लिए उनके यहाँ चार टके भी नहीं जुड़ते।

द्विवेदीजी ने इन वाक्यों से अपने लेख का अन्त किया है—'मैं बार-बार सोच रहा हूँ। खाईं क्या और भी बढ़ती नहीं जा रही है? मगर शास्त्रों को इससे कोई मतलब नहीं। और मुझ-में इतना साहस नहीं कि प्रसंग पर नये सिरे से सिर खपाऊँ। जब दिमाग खाली हो और दिल भरा हुआ हो, तो इतना ही सोच लेना क्या गनीमत नहीं है?' इस ईमानदारी के आगे हम सिर झुकाते हैं। जहाँ जानबूझकर अपनी असमर्थता स्वीकार की जाय, वहाँ ज्यादा कुछ कहने-सुनने की गुञ्जाइश नहीं रहती। लेकिन यह सवाल एक व्यक्ति का नहीं है। असलियत यह है कि द्विवेदीजी समझते हैं कि उन्हीं का नहीं, बल्कि पूरे समाज का दिल तो भरा हुआ है, लेकिन दिमाग खाली है। इसीलिए उनकी समझ में समाज के विचारों में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, वे भयंकर हैं। 'भयंकर इसलिए कि अभी तक यह

समाज इस क्रान्तिकारी विचार के महाभार को सम्हालने के योग्य नहीं हुआ है—उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं। उसके कन्धे दुर्बल हैं, उसकी छाती धड़क रही है।' जनता की क्रान्तिकारी फ़ौज के लिए यह समझना कि उसके पैर लड़खड़ा रहे हैं और वह लड़ने के नाक़ाबिल है, यही मानी रखता है कि अभी कुछ दिन तक और हमें पंडितों की पंचायत में एकादशी के व्रत की चर्चा करनी चाहिए।

'नयी समस्या' शीर्षक लेख में साहित्य और समाज के सम्बन्ध की विवेचना करते हुए द्विवेदीजी स्वीकार करते हैं कि साहित्य का ध्येय मनुष्य जीवन को सुखी बनाना है। वह जानते हैं कि मनुष्य बिना रोटी-कपड़े के त्राहि-त्राहि कर रहा है और इस मसले को हल करना अच्छा काम है। लेकिन 'इसके बाद भी उसका मनुष्य होना बाकी रह जाता है।' और 'साहित्य वही काम करता है; साहित्य का यही काम है।' हमारा निवेदन है कि जब तक अन्न-वस्त्र की समस्या नहीं सुलझायी जाती तब तक यह सारी मनुष्यता की बातें सिर्फ ख़याली पुलाव ही रहेंगी।

समाज और साहित्य की समस्या पर टिप्पणी के रूप में उनका एक दूसरा लेख है 'गतिशील चिन्तन'। इक्के पर लेखक सवार है और वह उन दिनों की याद करता जाता है जब समुद्रगुप्त रथ पर चढ़कर विजययात्रा के लिए चलते थे। लेकिन वह सम्राट् थे और लेखक साम्राज्य का घोर शत्रु है। फिर वह सोचते हैं कि समाजवाद एक लोकप्रिय और आकर्षक सिद्धान्त क्यों है, लेकिन इसके साथ ही उनके मन में यह सवाल उठता है कि पेटेन्ट दवाइयाँ इतनी लोकप्रिय क्यों हैं? इस शंका में उन्होंने अपने प्रश्न का उत्तर भी दे लिया है। जिस तरह पेटेन्ट दवाइयों के विज्ञापन में कहा जाता है कि वे सभी रोगों को दूर

कर देंगी, लेकिन उनसे होता-हवाता कुछ नहीं है, उसी तरह समाजवाद भी सबसे मीठे-मीठे वादे करता है, लेकिन करता-कराता कुछ नहीं है। ग्रामीण जनता के अन्धविश्वासों का वे जिक्र करते हैं जहाँ अब भी हिस्टीरिया की दवा ओझे का डण्डा है। (शास्त्रकारों की विराट् परम्परा में वह ओझा भी तो एक कड़ी का काम करता है।) और कभी इन गाँवों में यह समाचार बड़ी तेजी से फैल गया था कि गांधीजी को अहमदाबाद में तोप से उड़ा दिया गया है और वह दिल्ली में लाट साहब के घर के सामने चर्खा कातते पाये गये। द्विवेदीजी कहते हैं, 'आज जब मेरे सारथी ने सरकार की हार को विश्वास के साथ मान लिया है तो मैं सोच रहा हूँ, तोपवाली बात में और मजदूरों के राज-वाली बात में क्या कोई समानता नहीं है? दोनों ही आकाश-कुसुम हैं!' आज सन् ४६ में हिन्दुस्तान की जनता ने जिस तरह और जितनी आर्थिक और राजनीतिक लड़ाइयों में हिस्सा लिया है, उससे शायद यह प्रकट हो जायगा कि उसने सरकार की हार पर ऐसा पूर्ण विश्वास भी नहीं कर लिया है जैसा द्विवेदीजी ने पहले समझा था, और मजदूरों के राज को आकाश-कुसुम समझकर जनता इस बात के लिए तैयार नहीं है कि विदेशी साम्राज्यवादी और देश के मुनाफेखोर निश्चिन्त रूप से उसकी छाती पर मूँग दलते रहें।

यद्यपि द्विवेदीजी समाजवाद के साथ नहीं हैं, या यों कहें कि वे उसे इतना सुन्दर मानते हैं कि उन्हें विश्वास नहीं होता कि ऐसा सुन्दर फूल धरती पर भी खिल सकता है, फिर भी साहित्य और संस्कृति के बारे में उनका दृष्टिकोण उदार है और प्राचीनपंथी आलोचकों से भिन्न है। 'हमारी संस्कृति और साहित्य का संबन्ध' नाम के लेख में उन्होंने बताया है

कि भारतवर्ष की सभ्यता सम्पूर्णतया आर्य-सभ्यता नहीं है। शकों और हूणों के समान आर्य भी बाहर से आनेवाले लोगों में से थे। 'आर्यों के आने के पहले इस देश में सभ्यतर द्रविड़ जाति बस रही थी। राजनीतिक रूप में विजित होने पर भी उनकी संस्कृति विजयी हुई। उपनिषदों का बहुधा विज्ञापित अध्यात्मवाद आर्य की अपेक्षा आर्येतर अधिक है। वर्तमान भारतवर्ष का धर्ममत अधिकांश में आर्येतर है। सरलता और ओजस्विता के कारण आर्य भाषा की जीत हुई; पर उसके सौंदर्य और सरसता-व्यंजक रूप के लिए आर्येतर जातियों का ऋणी होना ही पड़ेगा। भारतीय दर्शन अनेकांश में आर्येतर सिद्धान्तों से प्रभावित हुआ है।'

इस धारणा को अधिकांश विदेशी पुरातत्त्वज्ञ और प्राचीन संस्कृति-विशारद स्वीकार करते हैं, फिर भी हिन्दी में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जो इस तरह की बातों का यह अर्थ लगाते हैं कि उनके आर्यत्व पर कुठाराघात हो रहा है। पुरातत्त्व की नयी खोजों से कुछ दक्षिण भारतवासियों ने यह परिणाम निकाला है कि भारत के आदिवासी द्रविड़ ही थे और उनकी सभ्यता आर्यों से बढ़कर थी। परन्तु अभी इतिहास या पुरातत्त्व ने इस बात की गवाही नहीं दी। सर जान मार्शल और अन्य विद्वानों का विचार है कि द्रविड़ भी बाहर से आये थे। भारतवर्ष में और बहुत-सी जातियाँ भी रही हैं जिन्हें ऑस्ट्रो एशियाटिक (Austro Asiatic) कहा जाता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से आर्य द्रविड़, और दक्षिण एशिया की इन भाषाओं का एक दूसरे पर प्रभाव बराबर दिखाई देता है। आर्य होने की अहम्मन्यता छोड़कर जब हम एक नये सिरे से अपनी संस्कृति का इतिहास लिखेंगे, तभी हम यह समझ पायेंगे

कि विभिन्न जातियों ने उसे क्या-क्या दिया है और आगे के प्रसार के लिए उसका मार्ग क्या है। इस संबन्ध में द्विवेदीजी ने बहुत मूल्यवान् सुझाव हमारे सामने रक्खे हैं।

उनका कहना है कि अनार्यों का प्रभाव साहित्य और ललित कलाओं में ज्यादा दिखायी देता है। अजन्ता, साँची, भारहुत आदि की चित्रकला के लिए हम बहुत कुछ अनार्य जातियों के आभारी हैं। महाभारत में आर्य उपादान अधिक हैं लेकिन कालिदास के "यक्ष" संभवतः उस जाति के थे जो उत्तर भारत में आसाम तक फैली हुई थी। भारतीय नाट्य-शास्त्र भी आर्यों की विद्या नहीं है। आर्यों ने केवल अभिनीत होनेवाले नाटकों में भाषा का प्रयोग किया। बाल-गोपाल की पूजा भी 'जाटों, गूजरों और अहीरों की पूर्वज किसी घुमक्कड़ जाति की देन है। 'भारतीय संस्कृति का मूलाधार वह संस्कृति है जो अनेक आर्येतर जातियों के परस्पर सहयोग से बनी है। संस्कृतियों के परस्पर सहयोग और समन्वय के ऐतिहासिक कारण होते हैं। आर्य-भाषा और संस्कृति पर जो अमिट अनार्य चिह्न बने हुए हैं, उसका कारण यह नहीं है कि आर्य समन्वयवादी थे और सुख से उन्होंने यह आदान-प्रदान स्वीकार कर लिया था। आज यह कहना बड़ा भला मालूम होता है कि भारतवर्ष एक महा मानव-समुद्र है जिसने शक, हूण, यवन सभी का हृदय से स्वागत किया। परन्तु इतिहास क्या कहता है? इस समन्वय के पहले काफी रक्त बहाया गया। यदि अनार्य संस्कृति अब भी भारतीय संस्कृति का मूलाधार बनी हुई है तो इसका कारण उसका सजीव विरोध है जिसने बलपूर्वक लादी हुई संस्कृति को कभी स्वीकार नहीं किया। द्विवेदीजी के विचार से 'मजहब वह सबसे बड़ा हेतु है जो भाषा को

बदलवा देता है।' लेकिन आगे चलकर वह यह भी कहते हैं, 'अपने को हीन समझनेवाला जनसमुदाय उच्चतर समझी जानेवाली जाति की भाषा को स्वीकार कर लेता है।' इसे हम धार्मिक से भिन्न एक सामाजिक कारण कह सकते हैं। फ़ारसी और अंग्रेजी शब्दों का चलन इस कारण से भी हुआ कि वे शासकवर्ग की भाषाएँ थीं। गाँव के रहनेवाले हिन्दू-मुसलमान दोनों ही उन्हें अपनाने में कभी-कभी झूठे गौरव का अनुभव कर लिया करते थे।

द्विवेदीजी ने आर्येतर जातियों के प्रभाव की जो बात कही है, उसे देखते हुए यह अत्यन्त आश्चर्यजनक होगा यदि ऐसा प्रभाव भाषा पर पड़ा ही न हो। उनका कहना है, 'भारतीय जनता की अनादि काल से चली आती हुई मनोवृत्ति के अनुकूल होने के कारण ही संस्कृतबहुल भाषा इतनी तेजी से बढ़ गयी।' भारतीय जनता की भाषा-संबन्धी मनोवृत्ति क्या है, इसका पता लगाने का एक ही तरीक़ा है, और वह यह कि उत्तरी भारत की ग्रामीण भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर कम गया है। फिर भी एक बात तो स्पष्ट देखी जा सकती है कि साधु हिन्दी और साधु बँगला की समानता संस्कृत की भूमि पर है जब कि ग्रामीण भाषाओं की समानता संस्कृत से इतर पाली और प्राकृत की भूमि पर है। और यह समानता उत्तर भारत ही तक सीमित नहीं है। भद्रलोक और निम्न वर्ग की भाषा-संबन्धी मनोवृत्ति का अन्तर सुदूर दक्षिण तक चला गया है। इसके बहुत साफ़ ऐतिहासिक कारण हैं। संस्कृत शासक-वर्ग और उसके समर्थक भद्रलोक और पंडित-वर्ग की भाषा रही है। इस तरह से भारत की भाषाओं में एक ऊपरी समानता

दिखायी देती है। लेकिन रेगिस्तान के नीचे बहते हुए रवि बाबू के स्रोत की तरह एक अन्य प्रकार की भी भाषासंबन्धी समानता और एकता है जो हमारे देश के भाषाओं के संगीत की तरह विभिन्न जातियों और समाज के निम्न स्तरों में व्याप्त हुई है। उसे न पहचानने के कारण साहित्य-सम्मेलन के मंच से बार-बार संस्कृतबहुल भाषा की पुकार सुनायी देती है। यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि द्विवेदीजी की भाषा भी बहुत काफी संस्कृतबहुल है और भारतीय मनोवृत्ति जाने दीजिए, आधुनिक हिन्दी परम्परा से भी वह काफी भिन्न है। इसके आगे दो डग रखने पर ही हम सम्पूर्णानन्दजी की शैली तक पहुँच जाते हैं।

संस्कृतबहुल भाषा लिखने और उसे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल समझने पर भी द्विवेदीजी कविता में संस्कृत के नियम-पालन के पक्ष में नहीं है। 'कवि के रियायती अधिकार' में उन्होंने बड़े ढंग की सलाह दी है। हिन्दी कवि स्वरों को घटा-बढ़ाकर पढ़ना अनुचित समझते हैं। द्विवेदीजी का कहना है कि इस बारे में उन्हें उर्दू के शायरों की तरह स्वच्छन्द होना चाहिए। यह सही है कि भारतीय मनोवृत्ति संस्कृत के अनुकूल है, लेकिन 'हिन्दी में यह एक भ्रम सा फैला हुआ है कि हम लोगों का उच्चारण विशुद्ध संस्कृत-उच्चारण से मिलता है।' और भी, 'हिन्दी में हम शब्दों को अकारांत रूप में लिखते जरूर हैं, पर पढ़ते हैं हलन्त रूप में। दिवस लिखकर भी हम दिवस् पढ़ते हैं।' इसमें शक नहीं कि दीर्घ स्वरों को बातचीत में हमेशा ही दो मात्राओं का समय नहीं दिया जाता। इसलिए ऐसे दीर्घ स्वरों को जब हम कविता में दो मात्राओं का समय देते हैं तो उसके प्रवाह में अस्वाभाविकता आ जाती है। बोलचाल की हिन्दी में जितना लचीलापन है उसको

शतांश भी हम कविता में नहीं ला पाते। इसका कारण यही है कि संस्कृत का उच्चारण जो हमारी बोलचाल से मिट गया है उसे हम कविता में सुरक्षित रखने का व्यर्थ प्रयास करते हैं। एक बार फिर लोकगीतों का जिक्र करना ठीक होगा जिनकी भाषा के लचीलेपन से साधु हिन्दी बहुत कुछ सीख सकती है।

द्विवेदीजी के कुछ लेख आधुनिक हिन्दी साहित्य पर भी हैं। आचार्य द्विवेदी पर लिखते हुए उन्होंने उनके भाषा-संस्कार-संबन्धी कार्य की प्रशंसा की है और उन्हें अवतारी पुरुष कहा है। लेकिन अगर द्विवेदीजी की हिन्दी और उनके आदेशों के अनुसार लिखी हुई हिन्दी-कविता की तुलना भारतेन्दु युग की हिन्दी से करें तो यह जाहिर हो जायगा कि जिस अस्वाभाविक उच्चारण की बुनियाद पर नये हिन्दी के छन्दों में कविता रची गयी है, उसका बहुत बड़ा श्रेय आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को है।

कामायनी के लिए उनका विचार है कि 'वह नख से शिख तक मौलिक है' और 'विषय और भाषा का इतना प्रौढ़ सामंजस्य वर्तमान हिन्दी-कविता में दुर्लभ है।' इस कथन का औचित्य परखने के लिए वर्तमान हिन्दी-कविता पर बहुत कुछ कहना-सुनना जरूरी होगा। मैं केवल अपनी धारणा पाठक के सामने रख सकता हूँ। "पल्लव," "तुलसीदास" "राम की शक्ति-पूजा," "ग्राम्या" की बहुत सी कविताओं में विषय और भाषा का जो सामञ्जस्य दिखायी देता है, उसके आगे "कामायनी" को यह स्थान देना उचित नहीं मालूम होता। प्रसादजी की प्रतिभा जैसी नाटकों में प्रस्फुटित हुई है वैसी इस महाकाव्य में नहीं।

प्रेमचन्द का महत्त्व बताते हुए उन्होंने बंगला के अनुवादों

और तिलस्माती कहानियों का जिक्र किया है जिनकी लीक छोड़कर प्रेमचन्द्जी ने नये ढंग की कथाएँ लिखना शुरू किया था। वह प्रेमचन्द के मानवप्रेम की दाद देते हैं। प्रेमचन्द ने न अतीत गौरव के गीत गाये, न भविष्य की हैरतअंगेज कल्पना की थी—यह भी उन्होंने प्रशंसा के साथ लिखा है। लेकिन उनकी सहानुभूति सुधारवादी प्रेमचन्द से है, क्रान्तिकारी प्रेमचन्द से नहीं। उस महान् उपन्यासकार ने अपने अनुभव से देखा था कि सुधारवाद काफी नहीं है। जमींदार और किसान के समझौते में त्याग और सेवा तो किसान के पल्ले पड़ती है और मेवा जमींदार के। सुधारवाद से वास्तव में कोई सुधार नहीं हो सकता। इसका असली रूप है आत्मसमर्पण। द्विवेदीजी की राय में प्रेमचन्द में यह बड़ा दोष था कि वे अपने युग की राजनीतिक विचारधाराओं से प्रभावित हो जाते थे। 'वे देश की मौलिक समस्याओं के समाधान में अपने युग के राजनीतिक नेताओं से बुरी तरह प्रभावित थे। पहले महात्मा गांधी के आदर्शों को और बाद में समाजवाद के सिद्धान्तों को उन्होंने राष्ट्र की बुनियादी समस्याओं के समाधान का उपाय बताया।' गांधीवाद या समाजवाद मानवता के विकास के लिए दो साधनमात्र हो सकते हैं। समाजवाद के प्रसार का कारण यही है कि गांधीवाद उस विकास में सहायक नहीं हो सकता। त्याग और सेवा के नाम पर यदि हम प्रेमचन्द के सुधारवाद को अपना आदर्श मान लेंगे तो हम उनके विकास को नहीं समझ पायेंगे और इस युग के सामने हम एक गलत सिद्धान्त भी रखेंगे। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य में जो प्रगति की थी उसकी परिणति समाजवाद में ही हो सकती थी। एक सच्चे कलाकार होने के नाते वह अपने

युग के सबसे बड़े यथार्थ से आँखें मूँदकर न रह सकते थे।

द्विवेदीजी का मानववाद आज के समाजवादी यथार्थवाद से आकर टकराता है और फिर चक्कर खाकर लौट जाता है। उन्होंने बड़ी उदारता से भारतीय संस्कृति की व्याख्या की है, और प्राचीन साहित्य से आज की रचनाओं का क्रम जो[illegible] प्रयत्न किया है। उनके बहुत से लेखों में ऐसे सुझाव हैं [illegible] पर बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। फिर भी शाश्वत सत्य का ऐसा निर्विकार रूप अभी तक हमें नहीं मिला जो अपने युग की सीमाओं में बँधा हुआ न हो। जिसे हम घोर निर्विकार समझते हैं। वह भी विचार करने पर विकारयुक्त साबित होता है। इसलिये अपने युग की विचारधारा से घबड़ाने के बदले हमें यह देखना चाहिए कि वह वर्तमान समस्याओं को कहाँ तक सुलझा सकती है। संस्कृत को भारतीय प्रकृति के अनुकूल कहकर हम ग्रामीण भाषाओं की एकता और समानता की तरफ़ से आँखें मूँद लेते हैं। समाजवाद को आकाशकुसुम कहकर हम देश के वर्तमान संघर्ष और संसार की प्रगति से तटस्थ हो रहेंगे। सन्त कवियों ने शास्त्रों के विरोध में जिस परम्परा को जन्म दिया था, उसकी परिणति आज इसी दिशा में सम्भव है।

(जुलाई ४६)